(पाण्डित्यपूर्ण अद्भुद् अनुभवसंपन्न अद्वितीय ग्रन्थ)

कर्मयोग

लेखक—

तत्त्वदर्शिनी एवं प्रेमदर्शिनी के सुप्रसिद्ध टीकाकार

कर्मावतार अनन्त श्रीविभूषित सर्वात्मदर्शी परमहंस

श्रीस्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

(पाण्डित्यपूर्ण अद्भुद् अनुभवसंपन्न अद्वितीय ग्रन्थ)

कर्मयोग

लेखक—
तत्त्वदर्शिनी एवं प्रेमदर्शिनी के सुप्रसिद्ध टीकाकार
कर्मावतार अनन्त श्रीविभूषित सर्वात्मदर्शी परमहंस
श्रीस्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

प्रकाशिका:— श्री मती सुराती देवी (गीता देवी)
धर्मपत्नी श्री रमाशंकर राय
ग्राम— शेरपुर खुर्द
पो० आ०— शेरपुर कलाँ
जिला— गाजीपुर
(उत्तर प्रदेश)

१९७१ प्रथम संस्करण ३०००

पुस्तक मिलने का पताः—
श्री धर्मवीर मल्ल
स्थान—उसुरी , पो० आ०–मधुवन
जिला—आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश)

मूल्यः— १॥ रूपया

मुद्रक :—प्रभात प्रिंटिंग काटेज, आजमगढ़ ।
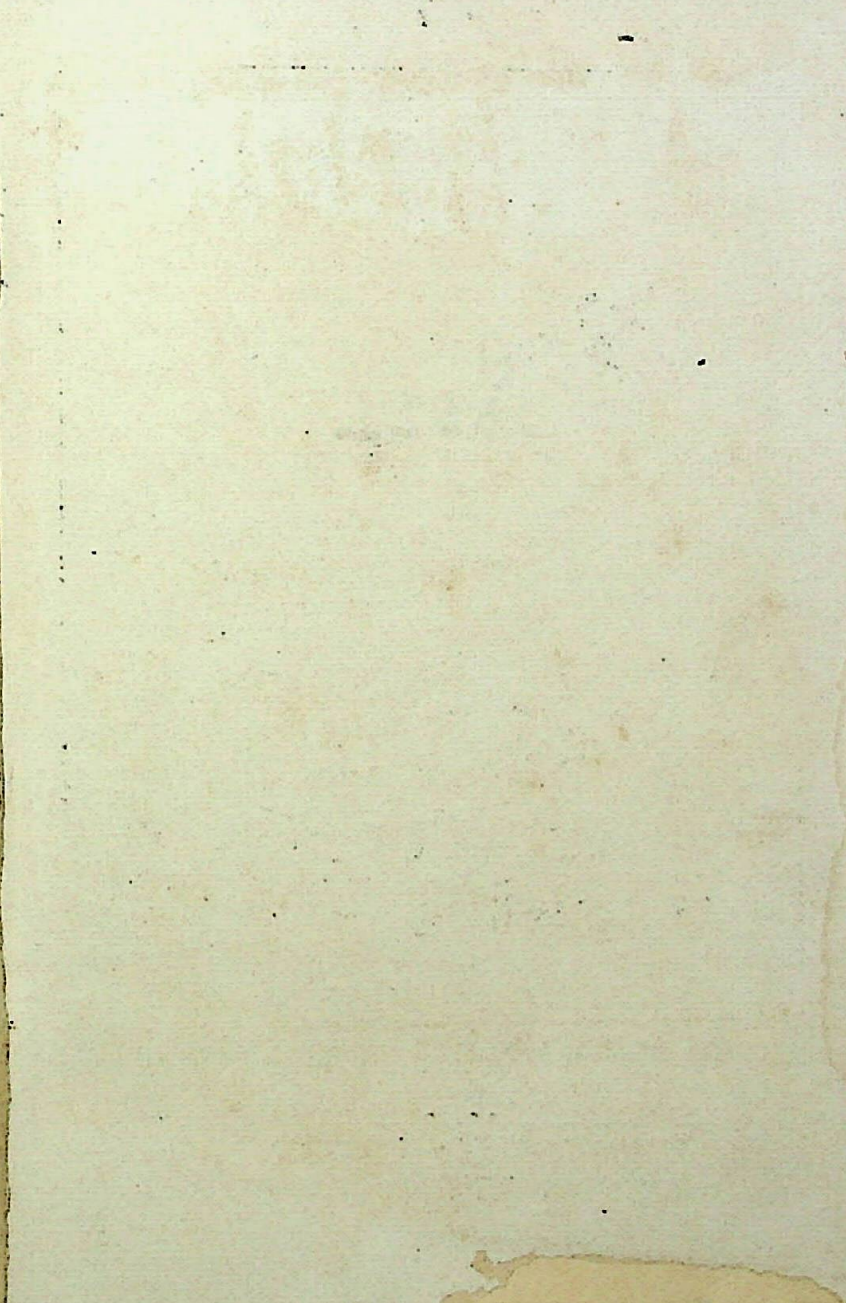
कर्मावतार अनन्त श्रीविभूषित सर्वात्मदर्शी परमहंस

श्रीस्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

प्राक्कथन

साकारं च निराकारं सगुणं निर्गुणं प्रभुम् ।
स्वतंत्रानन्दनामानं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥
सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पत्त्यादिहेतवे ।
तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥
कर्मकर्त्रे नमस्तुभ्यं नमस्ते कर्मसाक्षिणे ।
कर्मिणां फलरूपाय कर्मरूपाय ते नमः ॥

समस्त प्राणी अपनी समस्त कायिक, वाचिक मानसिक चेष्टाओं के द्वारा आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति एवं नित्य सुख-शान्ति की प्राप्ति की जिज्ञासा करते हैं। जीवों के इस लक्ष्यपूर्ति का निर्णय ब्रह्म के निःश्वासभूत काण्डत्रयात्मक वेदों में किया गया है तथा इसी का विस्तार श्रुति स्मृति पुराण संहिता एवं महाभारत आदि में भी किया गया है।

समस्त प्राणियों की समस्त चेष्टायें जिससे होती हैं तथा जिसके लिये होती हैं उस स्वरूपभूत नित्यानन्दस्वरूप परमात्मा ने भी जन्ममृत्युजराव्याधि से ग्रस्त, अज्ञानजनित कर्तृत्वादि क्लेश-रूप मोहात्मक अग्नि से सन्तप्त, अपने नित्यांश जीवों के आत्यन्तिक कल्याण की प्राप्ति के लिये,

" योगस्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविवित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ "

ज्ञान भक्ति एवं कर्म—इन तीन प्रशस्त मार्गों को बतलाया है, अन्य नहीं ।

प्रातःस्मरणीय सर्वात्मा सर्वभूतहितैषी सर्वात्मदर्शी जङ्गम-प्रयाग पूज्य चरण श्री स्वामी जी महाराज ने नित्यानन्दस्वरूप पर-मात्मप्राप्ति के कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग—ये जो तीन प्रधान शास्त्र-सम्मत मार्ग हैं उनमें श्रुतियों की सार-सारभूता अद्वैतामृतवर्षिणी भगवद्भ्दया श्रीमद्भगवद्गीता की अगाध पाण्डित्यपूर्ण एवं गहन पुष्कल अनुभूतियों से समन्वित सर्वोत्कृष्ट सर्वमान्य सुप्रसिद्ध अनुप-मेय प्रवचनात्मिका " *तत्त्वदर्शिनी* " नामक टीका के द्वारा ज्ञानयोग—ज्ञान-गंगा का पावन प्रवाह प्रवाहित कर ज्ञान मार्गावलम्बियों—तत्त्व-जिज्ञासुओं—मुमुक्षुओं की मोक्ष-पिपासा को शान्त कर अपने विशुद्ध स्वतन्त्र अन्तःकरण से निःसृत स्वनामानुसार स्वतन्त्र आनन्दरस से आप्लावित किया ।

भक्ति के प्रधानाचार्य भक्ति-भास्कर भगवत्स्वरूप महामहिम देवर्षिनारद द्वारा विरचित भक्तिमहाशास्त्रों के भी सारभूत बीज-स्वरूप चौरासी दिव्य सूत्रों की समन्वयात्मक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनारूप " *नारदभक्तिसूत्र* " की प्रेमोन्मत्त करने वाली भगवद्रसावेश

से सिक्त अमृतस्वरूपा दिव्य प्रेमाभक्ति की दिव्यानुभूतियों से सम्पन्न सर्व प्रशंसनीय सर्वश्रेष्ठ अनुभवात्मिका "*प्रेमदर्शिनी*" नामक टीका के द्वारा कलिकलुषविध्वंसिनी दिव्यरसपूर्ण भक्ति भागीरथी की पुनीत धारा प्रवाहित कर दिव्यरसपान के द्वारा भावुक भक्तमण्डली को भगवनोन्मुख होने के लिए लालायित किया, क्योंकि इसकी वर्णन शैली ही स्वभावतः अपने ढंग की अनूठी एवं अत्यन्त चित्ताकर्षक है। तदनन्तर पूज्य पाद श्री स्वामी जी महाराज ने इस पाण्डित्यपूर्ण महानुभूति से सम्पन्न अद्भुत "*कर्मयोग*" नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के द्वारा कर्मी गृहस्थों को भी कर्म करते हुए स्वरूपभूत परमानन्द की प्राप्ति का द्वार खोला। इस प्रकार उस ब्रह्माण्डाधिष्ठानस्वरूप महापुरुष के मानसरूप विशाल मानसरोवर से सृष्ट गंगा, यमुना, सरस्वती—त्रिवेणी का इस महापुरुष में समागम हुआ और इस महापुरुष रूप जङ्गम प्रयाग के प्राङ्गण में ये भक्तिकर्मज्ञानरूपी गंगा, यमुना सरस्वती की निर्मल धारायें कल-कल नाद करती हुई समरूप से प्रवाहित—एकीभूत हो रहीं हैं। सर्वात्मदृष्टि से भक्ति, कर्म, ज्ञान की आत्मरूपता को प्राप्त होने के कारण इनमें कोई हेयोपादेय बुद्धि नहीं है।

"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्"
"समत्वं योग उच्यते"
"योगः कर्मसु कौशलम्"
"वासुदेवः सर्वम्"

की दृष्टि से, इन तीनों में समत्व की अमोघ व्यापक दिव्य दृष्टि होने के कारण हेयोपादेयरूप विषमता का होना संभव ही नहीं। इसलिये कि वह ज्ञानस्वरूप सर्वावभासक सर्वात्मा समस्वरूप व्यापक ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सबको अपने ज्ञान रूप दिव्य

प्रकाश से अपनी ओर रवबर आकृष्ट कर रहा है। सब उसकी आत्मा, उसकी प्राप्ति के साधन हैं [सब उसकी गोदी के बच्चे, उसकी गोदी में बैठने के अधिकारी हैं और वह सबको अपना दर्शन देने के लिये उद्यत है। अतः समस्त साधनों से

" यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः "

उसकी कृपा से उसकी प्राप्ति हो सकती है] इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये सबके लक्ष्यभूत नित्यानन्दस्वरूप भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि,

" ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ "

कोई ध्यान से उस परमतत्त्व परमात्मा को देखते हैं, कोई सांख्ययोग के द्वारा और कोई कर्मयोग के द्वारा उसका साक्षात्कार करते हैं। इसी कारण से भगवान् ने

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥"

सांख्य एवं कर्मयोग को एक एवं अभिन्न फल वाला बतलाया है, मूढ़ इसको पृथक्-पृथक् और पृथक् फलवाला समझते हैं। इसीलिये गीतेश्वर से गीता को प्राप्त, गीता के व्यास, गीता के प्रत्यक्षमूर्ति पू० पा० श्री स्वामी जी महाराज सब साधनों की एकता स्वीकार करते हैं और समरूप से सबका फल एक बतलाते हैं। आश्चर्य है कि आज तक जितने भी महापुरुष गीता महाशास्त्र के द्वारा समाज के हित में प्रवृत्त हुये, वे अपने-अपने पक्षों के समर्थन के लिये कर्म, भक्ति एवं

ज्ञान में से किसी एक का मण्डन और दूसरे का खण्डन करते रहे। इस कारण राग-द्वेष की शान्ति के अभाव के स्थान पर राग-द्वेषात्मक साम्प्रदायिक बुद्धि की वृद्धि होती रही। वे विषस्वरूप हेयोपादेय बुद्धि प्रदान करते रहे और "*समत्वं योग उच्यते*" का भी नारा लगाते रहे। परन्तु गीता के ईश्वर के प्रसाद के अभाव में,

" गीता मे हृदयं पार्थ "

गीता, जो भगवान् का हृदय है उससे वे सर्वथा दूर रहे। उस साम्यामृतवर्षिणी हृदयरूपी गीताविश्रामस्थली में वे विश्राम नहीं कर सके, उसका आस्वादन नहीं कर सके, स्वानुभव नहीं कर सके, उसके वास्तविक रहस्य को नहीं समझ सके।

भगवत्प्रेम में तन्मय, ज्ञानवैराग्य के प्रत्यक्ष अवतार सर्वात्मदर्शी पू० पा० श्री स्वामी जी महाराज में इन तीनों का समन्वय प्रत्यक्ष देखने को मिला। कर्म, भक्ति, ज्ञान की त्रिवेणी का सामञ्जस्य शुक, सनकादि, व्यास, विदेहवत् वर्तमान काल में इसी महावतार में देखने को मिला अन्यत्र कहीं नहीं मिला।

इस "*कर्मयोग*" नामक अद्भुत ग्रन्थ का मूलाधार यजुर्वेद संहिता के चालीसवें अध्याय का द्वितीय मन्त्र,

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ "

है। इसी का श्रुति, स्मृति, पुराणों एवं संहिताओं में व्याख्यारूप से विस्तार किया गया है। श्री मद्भगवद्गीता का समस्त उपदेश इसी पर आधारित है। पू० पा० श्री स्वामी जी महाराज का कथन है कि सर्वमान्य गीता महाशास्त्र का निष्काम कर्मयोग इसी वेदमन्त्र से सृष्ट हुआ है। मानव, जोवन की पूर्णता के लिये यह एक वेदमन्त्र ही सर्वथा पर्याप्त है, अन्य सब तो ग्रन्थों का विस्तारमात्र है।

श्री स्वामी जी का कथन है कि किसी भी साधन के द्वारा जीव को स्वरूपभूत नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये संसारासक्ति-देहासक्ति से मुक्त होना अनिवार्य है। क्योंकि,

" देहमात्रे हिं विश्वासः सङ्गो बन्धाय कथ्यते "
" सङ्गो बन्धार्हं उच्यते "
" सङ्गं कारणमर्थानां सङ्गः संसारकारणम् ।
सङ्गं कारणमाशानां सङ्गः कारणमापदाम् ॥ "

जीवों के लिये सङ्ग ही बन्धन—समस्त अनर्थों का मूल कारण कहा गया है। यह देहासक्ति यानी शरीर में अहं बुद्धि ही स्वरूपभूत नित्यानन्द स्वरूप अधिष्ठान सत्ता को आवृत कर, विपरीत अनात्म बुद्धि के द्वारा बहिर्मुख कर, व्यष्टि-समष्टि समस्त द्वन्द्वात्मक जगत् की सत्यत्व की मान्यता के द्वारा शुभाशुभ कर्मों का संपादन करा कर दुःखमूलक शुभाशुभ योनियों की सृष्टि कर, जन्ममृत्युजरा व्याधि द्वारा नित्य निरन्तर सन्तप्त करती रहती है। सर्वभूतात्मा, सर्वभूतसुहृद, अकारणहितू, अखिलजीववत्सल भगवान् अपने सनातन अंशभूत जीवों को जागतिक त्रैताप से मुक्त होने के लिये,

" योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ "

इस जन्ममृत्युजरादि से ग्रस्त दुःखस्वरूप शरीर की आसक्ति से मुक्त योगस्थ—समस्थ—ब्रह्मस्थ हो, सिद्धि-असिद्धि में सम होकर,

ब्रह्मदृष्टि से ब्रह्मात्मक कर्म करने का उपदेश दे रहे हैं; क्योंकि परमात्मबुद्धि से किया हुआ समस्त ब्रह्मार्पित कर्म अपने बन्धकत्व धर्म से शून्य हो, साधक को विशुद्धसत्त्व बना कर जन्ममृत्युरूप बन्धन से मुक्त कर, स्वाभाविक सर्वानर्थनिवृत्तिरूप स्वरूपभूत नित्यानन्द को प्रदान करता है। इसीलिये पू० पा० श्री स्वामी जी ने कर्मयोग के अभाव में ब्रह्मप्राप्ति असंभव बतलाया है और यह भी कहा है कि समस्त कर्मों की सृष्टि नित्यानन्द स्वरूप ब्रह्मसत्ता से है, उसी से समस्त कर्म प्रवृत्त भी होते हैं तथा उसी नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये लौकिक-वैदिक समस्त कर्म किये जाते हैं, वही समस्त कर्मों का आत्मा—प्रकाशक एवं सत्तास्फूर्ति देने वाला है तथा उसी से समस्त कर्म व्याप्त भी हैं, तथा

"यो यस्माज्जायते स तत्सदृश एव भवति"
"यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तन्मात्रमेव"
"येन यद्व्याप्तं तत्तन्मात्रमेव"

इस सिद्धान्तानुसार, समस्त कर्म भी तद्रूप ही हुए। इसलिये कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिये,

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"
"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

इन गीतोक्त पदों का उद्धरण देते हुए बतलाते हैं कि अपने अपने कर्म में अभिरत जीव, कर्म के स्रष्टा, कर्म के प्रेरक कर्मात्मा ब्रह्म को, अपने कर्म रूपी दिव्य प्रसून को अपनी पूजा की सामग्री बना कर

" शान्तब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु ।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैव भवसि क्षणात् ॥ "
" ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः ।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भवभूषितभूतलः ॥ "
" ब्रह्मसर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥ "

इस अद्भुत ब्रह्मार्पण विधि से ब्रह्माचाररूप ब्रह्ममय पूजन-कार्य सम्पन्न करते हुए विशुद्धान्तः करण हो, द्वन्द्वात्मक जागतिक धर्मों से सर्वथा निवृत्त हो, द्वैताभाव देखते हुए निज स्वरूपभूत निर्विकार परमात्मा को प्राप्त कर सर्वभूतात्मा ईश्वरस्वरूप हो पृथ्वी का भूषण होकर सुशोभित होता है ।
तीर्थपाद श्रीस्वामी जी महाराज का कथन है कि

" सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ "

जब गुणातीत स्वरूपस्थ जीवन्मुक्त ज्ञानी महापुरुष भी अपने स्वभाव के अनुसार यथाप्राप्तानुवर्ती हो, शरीर इन्द्रियादि से चेष्टाशील होते ही हैं, तो भला ऐसा कौन अन्य प्राणी है जो कर्मों से उत्पन्न इस त्रिगुणात्मक शरीर से कर्मों का निःशेषतः त्याग कर सके । कोई भी ज्ञानी या अज्ञानी ,

" न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् । "
" न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । "

कभी भी क्षणमात्र भी शरीर से कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि सभी प्रकृतिजन्य गुणों से परवश हो, कर्म करने को सर्वथा बाध्य हैं । कर्मों से सृष्ट इस त्रिगुणात्मक शरीर के रहते हुए किसी

भी प्रकार कर्मों का निःशेषतः त्याग संभव नहीं, चाहे वह कर्म कायिक हो, वाचिक हो या मानसिक, चाहे लौकिक व्यवहार हो या भक्ति ज्ञान, वैराग्य, योग, ध्यानादि परमार्थ के साधन । यों तो ज्ञानी—अज्ञानी सभी की आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकार असंग एवं सुखस्वरूप है। इसलिये इस

"असङ्गो ह्ययं पुरुषः "
"असङ्गो न हि सज्जते "
"निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् "

निष्क्रिय, शान्त असंग आत्मा से कभी भी कर्मों का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता, क्योंकि सभी कर्म सुख के लिये ही किये जाते हैं। परन्तु जब स्वरूपभूत आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है तो उसके लिये कर्म एवं उसके फलों की अपेक्षा ही क्या ? कर्म तो जड़ अनात्म शरीर के ही हैं जो स्वभावतः यन्त्रवत् होते रहते हैं। इसलिए स्वात्मा के निष्क्रियत्व, असंगत्व ज्ञान के द्वारा जीव कर्तृत्वादि बन्धनप्रद धर्मों से मुक्त हो सकता है, क्योंकि कर्तृत्वबुद्धि ही समस्त अनर्थों का मूल है। अज्ञानी देहाभिमानी ही स्वरूपविस्मृति के कारण अकर्ता एवं निष्क्रिय आत्मा में मोह से देह के धर्म कर्तृत्वादि का आरोप करता है इसलिये निष्क्रिय असंग आत्मबोध के द्वारा,

"चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमुत्तमम् ।
तं विद्धि केवली भावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥"

कर्तृत्व शून्य होना ही समाधि, केवलीभाव एवं श्रेष्ठ विश्रान्ति-सुख है क्योंकि :—

"कर्तृत्वभोक्तृत्वादि दुःखनिवृत्ति द्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं भवति।"

"अकर्तृत्वादभोक्तृत्वमभोक्तृत्वात्समैकता ।
समैकत्वादनन्तत्वं ततो ब्रह्मत्वमाततम् ॥"

अकर्तृत्व से अभोक्तृत्व, अभोक्तृत्व से समैकत्व, समैकत्व से अनन्तत्व एवं अनन्तत्व से व्यापक नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

पू० पा० श्री स्वामी जी ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है कि संसक्ति ही समस्त दुःखों की जननी है उसी से समस्त दुःखों की परम्पराओं का विस्तार होता है। कहा भी है कि :—

" संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुखराशयः"
" संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्परा :"
" अन्तःसंसङ्गवाञ्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे "

और असंसक्ति ही नित्यानन्द की प्राप्ति का कारण है।

" सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता "
" अन्तः संसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् "

और वह असंसक्ति—अनासक्ति, असंग-अनासक्तस्वरूप

" यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयंकर्मबन्धन : ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ "
" युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् "
" असक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः "

ब्रह्म के लिये कर्म करने से ही संभव है, अन्य साधन से नहीं।

"संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्टतपःक्रियाः ॥
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
नाऽऽचारेषुसमारम्भ विचित्रफलपालपः ॥"

संसार को पार करने में न तो वनवास, न स्वदेशवास, न विविध प्रकार की कष्टप्रद तपस्यायें, न कर्मों का त्याग और न तो सत्कर्मों के अनुष्ठान से होने वाले ख्यातिलाभ एवं वर-शापरूप विचित्र फलराशियां ही हेतु हैं, अपितु

"असंसक्त मनो यस्य स तीर्णो भवसागरात्"

केवल अनासक्ति ही संसारतरण में एक मात्र हेतु है। इसी अनासक्त बुद्धि से जीवन्मुक्त पुरुष,

"कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः"
"समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते"
"कुर्वन्नपि न लिप्यते"
"न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः"

सिद्धि-असिद्धि में सम होकर कर्म करने पर भी निर्लिप्त, असंग एवं निष्क्रिय बने रहते। इस अवस्था में उनके कर्म दिव्यत्व—चिन्मयत्व को प्राप्त हो जाते।

"आत्मारामतया जीवो यात्यसंसङ्गतामिह ।
आत्मज्ञानेन संसङ्गस्तनुतामेतिनाऽन्यथा ॥"
"असंसङ्गसुखाभ्यास संस्थितैर्विततात्मभिः ।
व्यवहारिभिरप्यन्तर्वीतशोकभयैः स्थितम् ॥"
"कुर्वन्नपि बहिःकार्यं सममेवावतिष्ठते ।"

केवल असंग आत्मा में विश्रान्ति होने से ही जीव संसार में असंग· भाव को प्राप्त करता है। केवल आत्मा के ज्ञान से ही संग क्षीणता को प्राप्त होता है अन्य किसी प्रकार से नहीं।

जो विशाल अन्तःकरण जीवन्मुक्त महानुभाव असंसङ्गजनित सुख के निरन्तर आस्वाद में संलग्न हैं वे उन्मन होकर बाहर से कर्मों का संपादन करते हुए भी सदा सर्वदा निर्भय एवं शोकशून्य हो समरूप से स्थित रहते हैं।

जो समाहितचित्त पुरुष असंसक्तभाव को प्राप्त हो चुके हैं, उन

" गृहमेव गृहस्थानां सुसमाहितचेतसाम् ।
शान्ताहंकृतिदोषाणां विजना वनभूमयः ॥ "

अहंकारादि दोषों से शून्य गृहस्थों के लिये घर ही निर्जन वनभूमि है। ऐसे समाहित चित्त महापुरुष,

" यस्त्वात्मरतिरेवान्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रिया ।
न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥ "

अन्तः करण से आत्मा की रति, प्रीति से सम्पन्न हो, कर्मेन्द्रियों से कर्म करते हुए हर्ष-शोक के वशीभूत नहीं होते। वे

" क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥ "
" प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः ।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते ॥ "
" प्रवाहपतिते कर्म स्वयमेव क्रियते तु यत् ।
जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्तता तथा ॥ "
" असंगतामनायासाज्जीवन्मुक्ति स्थितिः स्थिराम् । "

आकाश के सदृश आवरणशून्य शुद्धान्तःकरण जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष स्वभावतः कामसंकल्परहित प्रवाहपतित कार्यों को करते हुए कर्मों से निर्लिप्त असंग ही रहते हैं। असंगता ही अनायास सिद्ध हुई सुदृढ़ जीवन्मुक्ति की अवस्था है।

पू० पा० श्रीस्वामी जी महाराज ने परमार्थमार्गावलम्वी साधकों के लिये अपने विशाल अन्तःकरण की विशाल अनुभूतियों का दिग्दर्शन कराते हुए वतलाया है कि समत्व-बुद्धि रूप योग के द्वारा विधि-निषेधातीत स्वात्मा के असंगत्व को प्राप्त,

"कर्मण्यकर्म यः पश्येत्"

की दिव्य दृष्टि से सम्पन्न, गुणातीतपथ पर विचरने वाला महापुरुष,

"निस्त्रैगुण्येपथि विचरतां को विधिः को निषेधः"
"न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारे जगद्गतम्।
सर्वमेवाऽनुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥"
"सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते"
"कर्मकुर्वन्नकुर्वन्वा निःसङ्गः सन्न लिप्यते"

ग्रहण-त्याग की भ्रमात्मक-वुद्धि से मुक्त हो, समस्त लौकिक-वैदिक विधि-निषेधात्मक प्रारब्धानुसार प्रवाहपतित कर्मों का अनुवर्तन करता हुआ भी संश्लिष्ट नहीं होता, अपितु कर्मयोग के प्रसाद से विशुद्ध-सत्त्व हो सर्वात्मदर्शनरूप महायोग के सामर्थ्य से सर्वभूतात्मत्व को प्राप्त,

"स्वचैतन्ये स्वयं स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे।
स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽन्यन्नचिन्तये॥"

अखण्ड स्वचैतन्यात्मक केवल केवली भावरूप स्वाराज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त, स्वात्मराज्य का स्वयं ही चक्रवर्ती सम्राट हो, त्रिविध

अद्वैत का खेल खेलता हुआ, अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से निरतिशय भूमासुखरूप स्वमहिमा में प्रतिष्ठित हो, स्वात्मभिन्नाभाव होने के कारण केवल स्वात्मा से ही रति, प्रीति, क्रीडा, विनोद करता हुआ, अज्ञानात्मक द्वैतदर्शनरूपभ्रमात्मक चिन्तन से सर्वथा मुक्त, अद्वैत-निष्ठ ब्रह्मभूत हो, ब्रह्मानन्दमूर्ति जीवन्मुक्त कृतकृत्य हो जाता है। इस अनिर्वचनीय ब्राह्मीस्थिति की अनुभूतियों का निरूपण पू० पा० श्री स्वामी जी महाराज ने बड़े ही अद्भुत ढंग से किया है, जो सर्वथा अवाङ्मनसगोचर मूकास्वादनवत् स्वसंवेद्य — अनुभवगम्य है। श्री स्वामी जी का कथन है कि यह कर्मयोग का सार्वभौम उपदेश जीव को स्वरूपभूत नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये ही है, जिसकी प्राप्ति—अनुभूति पर समस्त विश्व आत्मरूप—अपनारूप हो जाता, द्वैतदर्शनजनित रागद्वेषात्मक समस्त द्वन्द्व समाप्त हो जाते, त्रैताप शान्त हो जाते, चिज्जड़ग्रन्थि विनष्ट हो जाती, सारे संशय-संदेह छिन्न-भिन्न हो जाते, सर्वत्र समता का साम्राज्य व्याप्त हो जाता, जीव, जगत् एवं ईश्वर का भेद समाप्त हो जाता, सभी सम-ब्रह्मरूप हो जाते तथा जीव अपनी स्वाभाविक अपरिच्छिन्न अनिर्वचनीय निर्विकार स्वरूपभूता ब्राह्मी स्थिति में सर्वदा के लिये प्रतिष्ठित हो, समस्त विश्व का उपास्य,

> "अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
> स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधः॥"

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का स्वरूप बन जाता।

इस कर्मयोग नामक ग्रन्थ में कर्मविमुख लोगों को कर्म में प्रवृत्त करने के लिए अनेकों युक्तियुक्त शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा विषय का बड़ा ही चित्ताकर्षक मार्मिक चित्रण किया गया है जिसके मननात्मक गम्भीर अध्ययन से कर्मयोग की महत्ता, विशिष्टता एवं

सार्वभौम व्यापकता का वास्तविक बोध होता है। इस कर्मयोग के विचित्र रहस्यात्मक अनुभूतियों को समझ कर सभी विद्वज्जन बाध्य हैं इधर आकृष्ट होने के लिये, इसमें तनिक भी संशय नहीं।
पू० चरण श्री स्वामी जी महाराज ने शास्त्रीय प्रबल प्रमाणों से यह भी पुष्टि की है कि जो कर्मफल की स्पृहा से शून्य, कर्मयोग रूप समत्व-बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण कुशल-अकुशल कार्यों में रागद्वेषात्मक समस्त द्वन्दों से रहित है वह सर्वात्मदर्शी सत्त्वशुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के प्रधानसाधनभूत कर्मयोग से युक्त हो, प्रारब्धानुसार यथाप्राप्त कर्म का सम्पादन करता हुआ सुखपूर्वक अनायास ही जनक, अश्वपति प्रवाहण, निमि, अजातशत्रु, एवं वसिष्ठ व्यासादिवत् गृह पर निवास करता हुआ स्वरूपभूत नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो, जन्ममृत्युजराव्याधि से ग्रस्त इस अनात्म शरीर में आत्मबुद्धिजनित मोह को प्राप्त नहीं होता यानी बन्धनप्रद द्वैतदर्शनरूप विषम विषाक्त दृष्टि से मुक्त, दिव्यसाम्यामृत को पीकर नित्यशुद्धबुद्धमुक्त अजर, अमर हो, ब्रह्मभुक् ब्रह्मानन्द का मूर्तिमान विग्रह हो जाता है। इस-लिए कल्याणकामी पुरुषों को दिव्यदृष्टिप्रद इस "कर्मयोग" नामक ग्रन्थरत्न में प्रतिपादित सानुभूत समत्वबुद्धिरूप कर्मयोग का सर्वथा अनुष्ठान करते हुए अपने लक्ष्यभूत नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर निहाल, कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो जाना चाहिये।

यह ग्रन्थ,

"स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते"

इस व्यासभाष्यानुसार, परमात्मा की प्रेरणा से विद्वानों को परमात्मा के प्रकाश के लिए, आत्मदृष्टि से उनका आत्मा बन कर उनके हित के लिए, उनके परमार्थ दर्शन के लिये, उनकी सुख-शान्ति के लिए,

कर्म करते हुए नित्यानन्दप्राप्ति के लिये उनकी आस्तिकता की रक्षा के लिए, देश के सुधार, संगठन सुख-सुविधा, एकता, मैत्री के लिए, राग-द्वेष के शमन, कलह, वैमनस्य के दमन के लिए, सम्प्रदाय-पार्टियों के मतभेद को शान्त कर सबमें,

" वसुधैव कुटम्बकम् "

की भावना भरने के लिए, विश्वप्रेम के लिए और सबको

" सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

की दृष्टि से ब्रह्मरूप देखने के लिए, सबको

" सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् "

स्वात्मरूप से देखने के लिए,

" आत्मौपम्येनसर्वत्र........ "

आत्मदृष्टि से सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने के लिए, गले से गला मिलाकर एक होकर रहने के लिए, सबके आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति के लिए करुणार्द्र आत्म-विभोर होकर अपने स्वरूपभूत आत्मा—विश्व के कल्याणार्थ सर्वात्मदर्शी सर्वभूतात्मा सर्वसुहृद श्री स्वामी जी महाराज का यह अमोघ स्वानुभूत दिव्य अमर उपदेश है। अतः पाठकगण स्वाध्याय के द्वारा इस ग्रन्थ महारत्न से परमात्मा का प्रकाश प्राप्त करने का अवश्यमेव प्रयास करें। यह ब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाला कर्मयोग का अद्वितीय अद्भुत ग्रन्थ है। ऐसा कर्मयोग के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को प्रकाशित करने वाला द्वितीय ग्रन्थ अब तक नहीं सृष्ट हुआ है। इसके स्वाध्यायी को अवश्य परमात्मा का प्रकाश होगा, क्योंकि इसकी सृष्टि ईश्वर के प्रसाद से हुई है सामान्य मानवी बुद्धि से नहीं। यह महाप्रसादग्रन्थ गृहस्थों—कर्मियों के लिए अमोघ निधि है, उनका जीवन सर्वस्व है। अतः इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अवश्य लाभान्वित हों।

पूज्यपाद श्री स्वामी जी महाराज ने इस दिव्यानुभवसम्पन्न अद्भुतग्रन्थरत्न की रचना कर कर्मी जगत् का अत्यन्त उपकार किया है जिनके उपकारजनित ऋण से समाज कभी भी उऋण नहीं हो सकता। इसकी अनिर्वचनीय दिव्यानुभूत व्याख्या मूकास्वादनवत अनुभवगम्य है। इसकी विशिष्टता का मूल्याङ्कन पाठकवृन्द स्वयमेव करेंगे।

इस अद्भुत, अनुपम, दुर्बोध, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनिर्वचनीय, गहन पुष्कल दिव्यानुभूतियों से समन्वित, गम्भीर "कर्मयोग" नामक ग्रन्थरत्न पर कुछ लिखने का दुस्साहस श्री चरणों की अनुकम्पा विशेष से ही हुआ। जिन्होंने गुरु एवं आत्मरूप से वाह्याभ्यन्तर स्थित हो, बुद्धि को अपनी चित्-शक्ति से सत्तास्फूर्ति प्रदान कर, कुछ टूटे-फूटे शब्दों में लिखने की प्रेरणा प्रदान की, उन्हीं से निःसृत तद्रूप शब्दपुष्पों को उन्हीं के युगल कर-कमलों में सादर सप्रेम समर्पित करता हूँ।

"चैतन्यं शाश्वतं शान्तं व्योमातीतं निरञ्जनम्।
तमहं सद्गुरुं वन्दे स्वतंत्रानन्दरूपिणम्॥"

परिपूर्णतमं शान्तं राधाकान्तं मनोहरम्।
सत्यं ब्रह्मस्वरूपं च नित्यं कृष्णं नमाम्यहम्॥

नमो विज्ञप्तिरूपाय नमो वेदान्तरूपिणे।
वेदवेदान्तनिष्ठानामात्मभूताय ते नमः॥

कर्मणः कर्मरूपं त्वं साक्षिणं सर्वकर्मणः।
फलं च फलदातारं सर्वरूपं नमाम्यहम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

आत्मानन्द

श्रीः

* निवेदन *

[पं० श्री हरिवंश मिश्र व्याकरणाचार्य, वेदान्ताचार्य, साहित्यरत्न]

परमेश्वर की असीमानुकम्पावश जब प्रसादस्वरूप " कर्मयोग " को सुनने एवं पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ तो स्वभावतः हृदय इसके लिए आन्दोलित एवं समुल्लसित हो उठा कि इसके ऊपर कुछ विचार व्यक्त किए जांए; परन्तु तत्क्षण वह चित्तवृत्ति निराशा में इसलिए परिणत हो गई कि अनुभूति का परिमाण एवं इयत्ता केवल शब्दों द्वारा व्यक्त की जाय, यह कठिन ही नहीं अपि तु असंभव है। इसको इस प्रकार कहें कि किसी अनुभूतिसम्पन्न ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष की विचारधाराओं को सामान्य स्तर का बालक अपनी असंस्कृत वाणी द्वारा व्यक्त करे, यह उसी प्रकार असंभव है जैसे कागज की नाव से सरिता या समुद्र की यात्रा। अस्तु, यह भी बाल अपनी जगह पर सत्य है कि यत्किंचित्कर्तव्याकर्तव्य की विवेकशीलता अथवा अपनी अबोधावस्था का ज्ञान यदि स्वयं को हो तो वह अविवेकी एवं अबोध ही कैसे कहा जाय ? ठीक इसी प्रकार बाल-चाञ्चल्य एवं सहज अविवेक ने कुछ लिखने को बाध्य किया।

शास्त्रीय विचार एवं उसका अनुसरण अनुकरण तथा भगवदुपदेश आदि सदाचरण एकमात्र नित्यानन्द की प्राप्ति के साधन हैं। वह नित्यानन्द, अक्षयानन्द भूमानन्दस्वरूप पूर्णतम परात्पर ब्रह्म परमात्म एक होता हुआ जगदाकार भासित होता है, यह बात श्रुतियों में

" एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म "

नेह नानास्ति किंचन "

इत्यादि अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से बहुधा प्रतिपादित है। नानाविध-जात संसार में वही अर्थात् उसी की सत्ता प्रतिभासित हो रही है, वही सच्चिदानन्दघन है अतिरिक्त उसके स्वगतस्वजातीयविजातीय कोई दूसरी सत्ता नहीं है। अथवा इस प्रकार कहें कि यह मायिक नाना विधजात प्रपञ्चात्मक जगत् निर्गुण निर्विकार सच्चिदानन्दघन परात्पर-परमात्मा का लीलास्वरूप है। ऐसी स्थिति में उस नित्यानन्द भूमानन्द की प्राप्ति के साधनों एवं उसके प्रकारों में भिन्नता तो संभाव्य है; परन्तु उस साध्यस्वरूप परमात्मा की सत्तास्वरूप में भिन्नता हो, यह बात नितान्त असंगत है क्योंकि वस्तु में विकल्प कदापि नहीं रहता। अतः यह बात प्रतीत होती है कि जिस प्रकार वस्तु में सर्वथा विकल्प का अभाव रहने पर भी इन्द्रियादिजन्य भ्रान्तिवश मानव वस्तुस्वरूप में ही विकल्प का निश्चय कर बैठता है, उसी प्रकार श्रुतियों के समुचित अर्थ में भ्रान्ति होने ही के कारण पूर्व के विभिन्न विशिष्ट आचार्यों ने नित्यसुखस्वरूप एवं सर्वव्यापक अद्वय परमात्मा को भेदात्मक एवं परिच्छिन्न मानने एवं मनाने का दुस्साहस किया है। सिद्धान्तों की विकलता एवं अनिश्चयात्मक परिस्थिति में संसार सुख-शान्ति के मार्गान्वेषण में सर्वथा भ्रान्त तथा दुःखी ही रहेगा। कुछ लोग भक्ति द्वारा सुख-शान्ति की गवेषणा करते हुए कर्म और ज्ञानमार्ग का भयंकर एवं वीभत्स खण्डन ही प्रधानतया अग्रसर कर बैठते हैं। कुछ लोग कर्म का निरूपण करते हुये "*कर्ममयं ब्रह्म*" का उपदेश देंगे, परन्तु उनका भी प्रतिपाद्य ज्ञान एवं भक्ति का खण्डन ही प्रधानरूप धारण कर लेगा। उनकी कर्मसाधना उस खण्डन में फीकी दिखाई पड़ेगी। इसी प्रकार ज्ञान-मार्गप्रदर्शक आचार्यों ने कर्म एवं भक्ति की कमर तोड़ डाली है। यदि लोक-कल्याण की दृष्टि से विचार किया जाय तो यह बात भी उचित इसलिए नहीं जान पड़ती कि तत्त्वविद् लोगों के लिए

सिद्धान्तप्रतिपादन महत्त्वहीन ही नहीं, अपितु व्यर्थ-सा है। रही बात मायासमुद्र में निमग्न प्राणिवर्ग की, तो मेरे अबोध मस्तिष्क का निश्चयात्मक ज्ञान है कि लौकिक प्राणिवर्ग के लिए कर्म एवं भक्ति मार्ग से सहसा विरक्ति लेने पर ज्ञान की प्राप्ति तो दूर रही पथभ्रष्ट तथा अकर्मण्य होने की अधिक संभावना है। गुरुजनों का प्रसाद एवं महात्माओं का उपदेश है कि ज्ञानमार्ग का बाना बनाने के लिये भक्ति और कर्म का त्याग करके संन्यास लिया नहीं जाता है अपितु शास्त्रीय सदाचारसम्पन्न कर्मों द्वारा तथा भगवदुपासना द्वारा पूतान्तःकरण जीव परमात्मा की अहैतुकी कृपावश तन्मय होकर ताद्रूप्य हो जाता है। वह विशेषावस्था अनिर्वचनीयावस्था है।

"यद्गत्वा न निर्वर्तन्ते तद्धाम परमं मम"

अ। था में परिच्छिन्न कर्म, धर्म स्वतः छूट जाते हैं या ये सब भी तद्रूप हो जाते हैं। जैसे प्रकाश आने पर अन्धकार को प्रयासान्तर से हटाना नहीं पड़ता, वह स्वयं खिसक जाता है। या यों कहें कि अन्धकार भी प्रकाश से मिलकर प्रकाशमय हो जाता है ठीक वैसे ही संन्यास लिया नहीं जाता, कर्तृत्वभोक्तृत्वबुद्धि से रहित कर्म एवं सदाचार तन्मयतापूर्ण अनन्य भक्ति द्वारा विशुद्धान्तःकरण को संन्यास हो जाता है जिसे ज्ञान का द्वार या अव्यवहित पूर्वक्षण कह सकते हैं।

सारांश यह कि सुख-शान्ति के अन्वेषक जनवर्ग के लिए विभिन्न पूर्वाचार्यों द्वारा की गई श्रुति एवं शास्त्रों की विकल व्याख्याएं महान् विक्षोभ का कारण बन बैठी हैं। ऐसी भयानक स्थिति में अनन्त श्री विभूषित ब्रह्मनिष्ठ महात्मा की लेखनी ने '*कर्मयोग*', '*प्रेमदर्शिनी*' एवं '*तत्त्वदर्शिनी*' द्वारा अमृतोपदेश

से अविद्याग्रस्त मृत संसार को अमृत बनाने का समुचित ही नहीं, अपितु अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है। मेरी विचारधारा में जैसे भगवान् के निःश्वास वेद की घोषणा है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"

तात्पर्य यह है कि श्रुति का लक्ष्य एवं प्रतिपाद्य आत्मदर्शन ही है परन्तु भगवती श्रुति ने विचार किया कि आत्मदर्शन इतना सरल नहीं कि सहसा हो जाय। अतः मोहग्रस्त जीवों पर दया करके श्रुति भगवती ने अनन्तर कहा कि पहले श्रवण करो तब मनन करो, उसके बाद तन्मय होकर निदिध्यासन करो। यह आत्मदर्शन का यथार्थ मार्ग है। उस गहन अट्टालिका रूपी आत्मदर्शन पर चढ़ने का यह सुगम सोपान है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप श्री १००८ पूज्य चरण स्वामी जी ने अपनी अहैतुकी कृपावश सुख-शान्ति के गवेषक मायामग्न जगत् के लिये "*तत्त्वदर्शिनी*" का प्रथम उपदेश ज्ञान प्रतिपादन रूप में दिया, परन्तु सर्वान्तर्यामी इस महात्मा ने सोचा कि यह मार्ग गहन ही नहीं अपितु लौकिक प्राणिवर्ग के लिये अत्यन्त दुरूह-सा है। अतः प्रेमा पराभक्तिप्रतिपादिका अपनी "प्रेम-दर्शिनी" की धारा से विक्षुब्ध एवं पिपासाकुलित जगत् को शान्ति प्रदान किया। परन्तु पुनः जब इस महाविभूति ने सिंहावलोकन किया कि भक्त्युद्रेक भी स्वकर्मपालन से ही सम्भव है तो अपनी सहज दयादृष्टि से भगवद्विषयिणीबुद्धि से सम्पन्नकर्तृत्वभोक्तृत्व-बुद्धिविरहित कर्मोपासना के उपदेशामृत से जगत् को पूर्णतम निरतिशय सुख-शान्ति के मार्ग-प्रदर्शन का प्रयास किया है, जिसका प्रतिफलस्वरूप "*कर्मयोग*" नामक यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

"यतो कर्माणि जायन्ते यतः कर्म प्रवर्तते।
येन कर्मात्मकं व्याप्तं तस्मै कर्मात्मने नमः॥"

"*कर्मयोग*" ग्रन्थ का शुभारम्भ निष्कर्षतः प्रतिपाद्य सिद्धान्तों के सम्यक् वाक्यों द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से किया गया है। मीमांसा शास्त्र का एवं आचार्यपरम्परानुगत यह सिद्धान्त है कि प्रारम्भिक मंगलाचरण में अनुबन्धचतुष्टय का सूत्रतः समाहार होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार विषय, सम्बन्ध, अधिकारी एवं प्रयोजनरूप अनुबन्धचतुष्टय अपने मूलरूप में समाहृत है।

विषयप्रतिपादन इतना गहन एवं मार्मिकतापूर्ण है कि पूतान्तःकरण की तो बात ही क्या, लोककी बुद्धि वाला पुरुष भी आनन्द में मग्न हो उठेगा। सर्व प्रथम

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥"

इत्यादि श्रुतिप्रमाणों द्वारा आसक्तिरहित कर्मों को ब्रह्ममय देखते हुए कर्मोपासना का पुष्टिकरण किया गया है। इसी प्रकार केवल आर्ष प्रमाणों के आधार पर ही ग्रन्थकाय का संगठन होने के कारण प्रतिपादनशैली बड़ी ही प्रौढ़, परिमार्जित एवं आकर्षक है। किसी भी लेखक की सफलता इसी से सिद्ध होती है कि वह अपने विषय-प्रतिपादन में कितना कुशल है ? क्या उसने अपने विषय समन्वयन के साथ विवादप्रस्तावना का आश्रयण तो नहीं लिया है ? या उसके तर्क मनमाने या व्यक्तिनिर्मित प्रमाणों की आधारशिला पर तो अवलम्बित नहीं हैं ? यदि हैं तो बड़ी ही भयानक अकुशलता का द्योतक है, क्योंकि आर्षप्रमाणों के अभाव में अन्य प्रमाण हेय ही कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में पू० पा० स्वामी जी के इस सिद्धान्त की सम्यक् झलक स्पष्ट है कि उन्होंने अपने विषय समन्वयन को ही प्रधान माना है। इसको यह भी कह सकते हैं कि कोई भी अनुभूतिसम्पन्न

निश्चयात्मकज्ञान वाला महापुरुष ही ऐसे विषय प्रतिपादन का अधिकारी होगा।

ग्रन्थ का उपादेय एवं अनुपम उपहार यह है कि आसक्ति अथवा संकल्परहित कर्मों को करते रहना। क्योंकि आसक्ति का अभाव ही,

"वासुदेव : सर्वम्"

की दृष्टि-विवेक प्रदान करने का मूल है जैसा कि,

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

इस आदिम् ब्रह्म सूत्रस्थ "अथ" शब्द की विवेचना में भी प्रतिपादि[illegible] है कि, "साधनचतुष्टयसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या"

साधनचतुष्टयों से सम्पन्न होने पर ही ब्रह्म-जिज्ञासा करनी चाहिये साधन-चतुष्टयों में प्रथम "इहामुत्रफलभोगविराग" ही है। अतः स्पष्ट है कि आसक्तिरहित होना परम ही कल्याण का हेतु है। ग्रन्थ

"यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते
हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान्भुङ्क्ते
न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥"

इत्यादि श्रुतिप्रमाणों द्वारा अनासक्तकर्म करने पर या यदृच्छाप्रा[illegible] कर्मों का उपभोग द्वारा कितनी निर्लेपावस्था की पौढ़ि की गई है, उस[illegible] व्यक्त करने का सामर्थ्य लेखनी की शक्ति के बाहर है, केवल वाग[illegible] व्यापारविरहित अनुभव ही उसका मापदण्ड है। इसके पूर्व के आच[illegible] यत्र-तत्र नगण्यरूप में भले ही अनासक्त कर्म का प्रतिपादन किए [illegible]

परन्तु कर्मानुष्ठान द्वारा सम्यग् ब्रह्मानुभूति का उपदेशक ग्रन्थ सर्वथा अलभ्य था। कहने का सारांश यह नहीं कि इसके पूर्व कर्म का प्रतिपादन ही नहीं किया गया था अपितु कर्मानुष्ठान को भक्ति एवं ज्ञान का पोषक न कहकर उसका प्रतिद्वन्द्वी ही प्रायः सिद्ध किया गया था, जिस रिक्त स्थान को भली भांति पूरा करने में यह ग्रन्थ समर्थ है। महापुरुष की सूक्ष्मदृष्टि ने अवलोकन किया कि सिद्धान्त तो है "*वासुदेवः सर्वम्*" "*सर्वं ब्रह्ममयं जगत्*" यह सम्पूर्ण यच्चयावच्च दृश्यादृश्य प्रपञ्च है वह ब्रह्ममय या वासुदेवमय ही है तो कर्मी जगत् अपने कर्मानुष्ठान को सम्पादन करता हुआ कैसे परम लक्ष्य एवं निरतिशय सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार जगत्कल्याण की आन्दोलन की भावना ने प्रस्तुत ग्रन्थ का जन्म दिया। जो लौकिक मानववर्ग यह सोचता है कि निरतिशय सुख-शांति की प्राप्ति जंगल या गेहादि त्याग पर ही निर्भर है उन आवृत हृदयों के बन्द फाटक को खोलकर सहज एवं समीस्थ निरतिशयानन्द की प्राप्ति कराने का प्रधान कार्य इस ग्रन्थ का उपादेय है। इसमें कर्मी जगत् को अनासक्त-रूप में कर्मानुष्ठान करने का मार्ग प्रदर्शन किया गया है जिसका प्रतिपादन आर्ष ग्रन्थों के आधार से बहुत ही प्रौढ़ शैली पर आधारित है। योगवासिष्ठ में भगवान् राम को उपदेश देते हुए महर्षि वसिष्ठ जी के कथनों द्वारा आसक्ति एवं अनासक्ति का बड़ा ही अद्भुत प्रदर्शन किया गया है। जैसे,

"अन्तःसङ्गो हि संसारे सर्वेषां राम देहिनाम्।
जरामरणमोहानां तरूणां बीजकारणम् ॥"

"यत्सुखार्थित्वमन्तः स सङ्गो बन्धार्ह उच्यते।"

"संसक्तिवस्तः सर्वे वितता दुःखराशयः।"

"संसक्तमनसामस्मिन्संसारे व्यवहारिणाम्।
अत्ति तृष्णा शरीराणि तृणा यग्निशिखा यथा॥"

"आसक्ति ही समस्त प्राणियों के जरामरणमोहरूपी वृक्ष का कारण है ।"

" आंतरिक वैषयिक सुखार्थिता ही बन्धनप्रद संग है ।"

" आसक्ति से ही समस्त दुःखराशियां विस्तार को प्राप्त होती हैं जैसे अग्नि शिखा तृणों को खा जाती है वैसे ही तृष्णा संसार में आसक्त जीवों को खा जाती है ।"—इन प्रकृष्ट एवं हृदयग्राही प्रमाणों द्वारा आसक्ति का बड़ा ही स्पष्ट रूप दिखाया गया है । आसक्ति को सम्पूर्ण अनर्थों की जननी बताने के साथ ही अनासक्ति को परम कल्याण प्रदायिनी बताने का मार्ग भी प्रमाणभित्ति पर अपना निराला ढंग प्रस्तुत करता है । जैसे,

" अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ।"
" असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।"
" अनन्तः सङ्गमङ्गानां विद्धि राम रसायनम् ॥"
" सर्वत्रसंसक्ति विवर्जितेन
स्वचेतसा तिष्ठति यः स मुक्तः ॥"
" अन्तःसक्तं मनो बद्धं मुक्तं सक्तिविवर्जितम् ।
अन्तःसंसक्तिरेवैकं कारणंबन्धमोक्षयोः ॥"

" आसक्तिरहित पुरुष संसार से मुक्त हो जाता है" "अनासक्त निर्मल चित्त संसारी होने पर भी असंसारी निश्चित मुक्त ही है ।" "अनासक्ति महारसायन है ।" "आसक्तिरहित स्वान्तःकरण से जो पुरुष सदा सर्वदा अवस्थित रहता है वही जीवन्मुक्त है ।" " आसक्तियुक्त मन बद्ध एवं आसक्तिरहित मुक्त है । केवल आसक्ति ही बन्ध-मोक्ष में कारण है ।"—ऐसा समझकर बन्धप्रद जरामरण मोह की जननी, संसारसागर को समुल्लसित करने वाली, शुभाशुभ योनियों की योनि, सर्व दुःख प्रदायिनी क्रूर महाराक्षसी आसक्ति

का प्रयत्नतः त्याग करके मोक्षप्रद, जरामरणमोह की नाशिनी, संसार शोषण करने वाली, शुभाशुभ योनियों की निरोधिका, सर्वसुख प्रदायिनी सौम्य दिव्य अनासक्तिमहादेवी का अवश्यमेव सेवन करना चाहिए। क्योंकि आसक्ति ही बंधन एवं अनासक्ति ही मुक्ति है।— इस अमृतमय दिव्य संदेश द्वारा इस महाविभूति ने कर्मी जगत् के आत्यन्तिक कल्याण का सफल प्रयास किया है। अनासक्तरूप में कर्मों के प्रतिपादन का प्रारंभ एवं उसका विस्तार तथा प्रौढ़ शास्त्राधारित समर्थन अन्ततोगत्वा समुचित ढंग से अनासक्त कर्म का ब्रह्मस्वरूप में उपसंहार अपने लोकोत्तर आलोक से संसार को अवश्यमेव आलोकित करने में सक्षम होगा। ग्रन्थ में कहीं यत्किंचिन्मात्र भी विवाद की गंध नहीं देखी जाती। इसका प्रधानकारण अनुभूति एवं शास्त्रमर्मज्ञता ही कही जा सकती है। जो महापुरुष ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिसम्पन्न हो चुका है अथवा यों कहें कि जिसने सम्पूर्ण दृश्यादृश्य प्रपञ्चात्मक ब्रह्माण्ड को आत्मरूपेण विषय कर लिया है। सब देश, काल, परिस्थिति में अविकल अद्वय सत्ता की अनुभूति होने से ब्रह्माण्ड को ही आत्ममय देखता है। ऐसी परिस्थिति में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति या उसके लक्ष्यभूत तत्त्व में भिन्नता या विरोध देखे, यह सर्वथा असंभव ही नहीं, अपितु वदतोव्याघात है। क्योंकि तीनों का प्रतिपाद्य एक है जो अविरोधरूप से प्रतिपादित है।

सबसे विचित्र बात मेरी दृष्टि में यह है कि एक ही श्रुतिसिद्धान्त रूपी आधार भित्ति पर खड़ा किया गया (ज्ञान भक्ति कर्म) तीनों मार्ग परस्पर टकराया नहीं देखा जाता, जैसा कि पूर्वाचार्य सर्वथा असमर्थ पाये जाते हैं। 'तत्त्वदर्शिनी' 'प्रेमदर्शिनी' एवं 'कर्मयोग' इन तीनों ग्रन्थों का समन्वय श्रुति एवं शास्त्र के सम्यग् अनुकूल होने के कारण ही परस्पर विरुद्ध न होकर एक दूसरे के पोषक हैं।

श्रुति एवं शास्त्र का सम्यगाशय परस्पर अविरुद्ध रूप में एकत्व प्रतिपादन ही है ।

मेरी बुद्धि यह भी सोचने लगी है कि क्या इस महापुरुष ने अपनी उपदेशमयी त्रिवेणी के द्वारा जगत् पर दयादृष्टि करके शब्दमय प्रयाग का निर्माण किया है ? इससे भी यह बड़ी अद्भुत वात है कि उस परमात्मा ने सगुण-साकार तीर्थराज में त्रिवेणी की धारा बहाई । सन्त-समागम को भी अपर जंगम तीर्थराज बनाया । उस परमात्मा ने अपनी तीर्थराज प्रयाग की विनिर्माणलीला को शान्त एवं तृप्त न देखकर यह अमूर्त अथवा समुत्कृष्ट शब्दमय तीर्थराज का संगठन इस संसार को अमृतोपदेश देने के लिए किया है । ठीक इसमें भी तीन धाराएँ परस्पर देखने में विभिन्न, परन्तु परिणामतः एक में अनुस्यूत दिखाई देती हैं । अतः यह भी निर्विवाद है कि ये कर्म भक्ति एवं ज्ञानोपदेश अधिकारिभेद से विभिन्न दिखाई देने पर भी लक्ष्य में एक ही हैं ।

ये तीनों ग्रन्थ अपने ढंग के अनुपम उपहार हैं । इसके पूर्व इस प्रकार की शैली एवं संस्कृत ढंग द्वारा भगवच्छरणेप्सुओं के लिए मार्ग प्रशिक्षण का अभाव-सा था । विभिन्न वासनाजाल में फँसा हुआ जागरूक जीव इस पद्धति से अवश्य कृतकृत्य एवं निहाल होगा । इस अनुपम, अलौकिक, इन्द्रियातीत एवं अनिर्वचनीय उपहार के प्रति यह लौकिक जन अपनी अविवेकमयी दृष्टि से कृतज्ञता एवं अन्य कृतार्थता के भावों को इसलिए नहीं व्यक्त कर पाता है कि वह इन्द्रियातीत है, अनिर्वचनीय है, उसका निर्वचन भी क्या करे ।

बस, ये तुच्छ शब्दप्रसून उस अनन्त श्री विभूषित ब्रह्ममय निर्लिप्त महात्मा के चरणों पर अर्पित हों । भरोसा इतने का है कि ये

तुच्छ विचार भी उस चिद्घन, आनन्दघन, सद्घन महापुरुष के सानिध्य से स्वयं तद्रूप हो जायेंगे। क्योंकि अन्धकार भी प्रकाश से मिलकर स्वतः प्रकाशमय नहीं, अपितु प्रकाशस्वरूप बन जाता है। ब्रह्मविवर्त भी स्वतः स्वरूप में ब्रह्म ही है। इसी दृष्टि से यह धृष्टता भी उस समदर्शी महात्मा की दयादृष्टि से कृतकृत्य हो जायेगी।

शम्।

निवेदक :—
हरिवंश मिश्र
आदर्श संस्कृत महाविद्यालय ढरसी
गगहा—गोरखपुर
उत्तर प्रदेश

मार्गशीर्ष पूर्णिमा
संवत् २०२७

॥ ॐ ॥

सांकेतिक चिह्नों का स्पष्टीकरण

संख्या	संकेत	स्पष्ट
१	ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्
२	के० उ०	केनोपनिषद्
३	क० उ०	कठोपनिषद्
४	मु० उ०	मुण्डकोपनिषद्
५	तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
६	प्रश्नो ०	प्रश्नोपनिषद्
७	श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
८	नि० उ०	निरालम्बोपनिषद्
९	छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
१०	अ० उ०	अध्यात्मोपनिषद्
११	बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
१२	यो० शि० उ०	योगशिखोपनिषद्
१३	व० उ०	वराहोपनिषद्
१४	अव० उ०	अवधूतोपनिषद्
१५	महो०	महोपनिषद्
१६	अन्न० उ०	अन्नपूर्णोपनिषद्
१७	कै० उ०	कैवल्योपनिषद्
१८	सं० उ०	संन्यासोपनिषद्
१९	श्री० मद्भ०	श्रीमद्भगवद्गीता
२०	अष्टा०	अष्टावक्र गीता
२१	म० स्मृ०	मनुस्मृति
२२	हा० स्मृ०	हारीतस्मृति
२३	श्रीमद्भा०	श्री मद्भागवत महापुराण
२४	सू० सं०	सूत संहिता
२५	यो० वा०	योगवासिष्ठ

" योगः कर्मसु कौशलम् "

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

आचार्यं कर्मयोगस्य महान्तं कर्मयोगिनम् ।
श्रीकृष्णं सद्गुरुं वन्दे महायोगेश्वरं हरिम् ॥

प्रसादाद्यस्य देवस्य नरैः जिज्ञासुभिः सदा ।
दिव्यं श्रेयःप्रदं चैव प्राप्यते कर्मकौशलम् ॥

कर्मयोगं प्रवक्ष्यामि श्रीकृष्णस्यप्रसादतः ।
भवार्णवात्प्रमुच्यन्ते नराः यत्रावगाहनात् ॥

यतो कर्माणि जायन्ते यतः कर्म प्रवर्तते ।
येन कर्मात्मकं व्याप्तं तस्मै कर्मात्मने नमः ॥

जिस जगदाधार जगन्नियन्ता ब्रह्म से कर्म सृष्ट हैं जिससे कर्म प्रवृत्त होते हैं एवं जिससे यह कर्मात्मक विश्व व्याप्त है,, उस सर्वाधार सर्वाधिष्ठान कर्मात्मा ब्रह्म को नमस्कार है ।

" कर्मयोग "

अनन्तानन्त ब्रह्माण्डाधीश्वर परमकारुणिक सच्चिदानन्दघन परात्पर परमात्मा सर्गारम्भ में,

" एकोऽहं बहुस्याम "

अपने इस दिव्य सत्यसंकल्पानुसार नानाविधजात चित्रित विचित्र विश्व की सृष्टि करके अनादि अविद्या से ग्रस्त कर्तृत्वभोक्तृत्वादि बुद्धि से सम्पन्न संसारानल से संतप्त दुःखाक्रान्त अपने सनातन अंशों के कल्याणार्थ उनकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति अर्थात् आत्यन्तिक सुख-शान्ति-नित्यानन्द की प्राप्ति का विचार करते हुए अपनी चिन्मय वेदवाणी के द्वारा दिव्यामर उपदेश देते हुए बोले —

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥" [ई० उ०२]

ऐ मुक्त नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म की गोदी के नित्यानन्दमूर्ति बच्चो ! अंशों ! नित्यानन्द के जिज्ञासुओ ! कर्मी जीवो ! तुम नित्यानन्द की प्राप्ति के लिए इस कर्मात्मक कार्य जगत् को,

"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥" [ई० ऊ० १]

कारण ईश्वर से व्याप्त अर्थात् सबको ईश्वरस्वरूप समझते हुए यानी सर्वत्र ईश्वर की भावना करते हुए शरीरनिर्वाह के लिए प्रारब्धानुसार प्राप्त भोगों को भोगते हुये अर्थात् जन्ममृत्युजराव्याधि से ग्रस्त इस

"योगः कर्मसु कौशलम्"

दुःखस्वरूप शरीर से निर्मम हो, परमात्मवित्त की प्राप्ति के लिए किसी के भी धन की इच्छा न करते हुए निर्लोभी, अस्तेयी-अपरिग्रही, सत्यनिष्ठ हो, अनासक्तभाव से इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष यानी आयुपर्यन्त जीने की इच्छा करो, क्योंकि बन्धन के हेतुभूत,

"सङ्गो बन्धाय कथ्यते" [अन्न० उ० ५।२]

कर्मासक्ति से मुक्त होने का अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति का इससे भिन्न अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसलिये कि समस्त कर्मों की सृष्टि उस कारण परमात्मतत्त्व से ही हुई है और उसी चैतन्यसत्ता से समस्त कर्म प्रवृत्त होते हैं एवं उस नित्यानन्द-भूमानन्द की प्राप्ति के लिये ही समस्त कर्म किए जाते हैं अर्थात् लौकिक-वैदिक जितने भी समाधिपर्यन्त कर्मयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोगादि साधन हैं उन सबका लक्ष्य स्वरूपभूत नित्यानन्द ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म समस्त कर्मों का आत्मा-प्रकाशक है, वही सबको सत्तास्फूर्ति देने वाला जगदात्मा है, कर्म उसके कार्य हैं, यह पिण्ड-ब्रह्माण्ड भी उसी का कार्य है। अतः यह कार्य जगत् कारण परमात्मा का कभी भी त्याग नहीं कर सकता जैसे घट मृत्तिका का। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। ऐसी अवस्था में यह कर्म से सृष्ट त्रिगुणात्मक शरीर कर्म का सर्वथा त्याग करने में समर्थ नहीं। फिर ऐसी स्थिति में कर्म का,

"न हि देहभृता शक्यं त्यक्तु कर्माण्यशेषतः" [श्री भद्ग० १८।११]

अशेषतः—सम्पूर्णता से त्याग संभव नहीं। इसीलिये वेद भगवान् का यह दिव्य आदेश है कि जीव सौ वर्ष—आयुपर्यन्त कर्म करते हुए

" कर्मयोग "

ही जीने की इच्छा करे, अकर्मा बनकर नहीं। अन्यथा उसे बन्धन उपस्थित होगा। क्योंकि परमार्थतः—स्वरूपदृष्टि से ज्ञानी-अज्ञानी सभी की आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय, नित्य, निर्विकार है, परन्तु शरीर से कोई भी ज्ञानी-अज्ञानी कर्म का त्याग नहीं कर सकता। हाँ, यह अवश्य है कि ज्ञानवान् निरहम्—अहंकृति से मुक्त स्वरूपस्थ होने के कारण शरीर की क्रिया से अपने को कर्ता नहीं मानता और अज्ञानी;

" कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः " [नि० उ०]

बन्धन के हेतुभूत कर्तृत्वबुद्धि से सम्पन्न होने के कारण शरीर की क्रियाओं से अपने को कर्ता मानता है। इसी अहंकृति के शमनार्थ वेदभगवान् का आदेश है कि समस्त चराचर जगत् को ईश्वर से व्याप्त अर्थात् समस्त विश्व को ईश्वरमय देखते हुए परमपद प्राप्ति के साधनभूत इस मानव शरीर से आयुपर्यन्त अनासक्तभाव से,

" समत्वं योग उच्यते " [श्रीमद्भ० २।४८]

समत्वबुद्धि से सम्पन्न हो,

" सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा " [२।४८]

" सुखदुःखे समे कृत्वा " [२।३८]

सिद्धि—असिद्धि में सम होकर यन्त्रवत् शरीर से व्यापार होने दो, क्योंकि कोई भी कर्म बन्धन का हेतु नहीं है अपितु

" सङ्गो बन्धाहं उच्यते " [यो० वा० ५।६८।२]

आसक्ति ही बन्धन का हेतु बनती है, परन्तु तुम आत्मा असंग, निर्विकार, सुखस्वरूप हो। अतः तुममें आसक्ति संभव ही नहीं। यह

" योगः कर्मसु कौशलम् "

वेद भगवान् का समत्व–अनासक्त–कर्मयोग का उपदेश जीव को स्वरूप की स्मृति के लिये, शिव बनाने के लिये है, संसार के दावानल—त्रैताप से मुक्त–स्वाराज्य पर अभिषिक्त—नित्यानन्द की प्राप्ति—सर्वात्मदर्शन के लिये है। उस काल में समस्त ब्रह्माण्ड अपना स्वरूप बन जाता है और राग-द्वेष पूर्णतया क्षीण हो जाते हैं; क्योंकि सर्वत्र समता का साम्राज्य छा जाता है, समस्त कर्म, धर्म, देश, काल, वस्तु, दिक्, विदिक्, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, सागर, पहाड़, नदी, नद, सज्जन, दुर्जन, आस्तिक, नास्तिक, शत्रु, मित्र, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन, धर्मी, अधर्मी, जीव, शिव, प्रकृति, पुरुष, जड़, चैतन्य—सब अपने स्वरूप बन जाते हैं। इस प्रकार वह महात्मा इस महाविभूतिरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, अपने सर्वात्म सर्वरूप महान् महिमा से महिमान्वित, परिच्छिन्न अहं—जीवभाव से मुक्त शिवस्वरूप हो, शोक-मोह से मुक्त, निहाल कृतकृत्य हो जाता है। वस्तुतः इसी अवस्था की प्राप्ति के लिये कर्म, धर्म, योग, भक्ति, ज्ञान एवं ध्यानादि की अपेक्षा है। इसी-लिये श्रुति भगवती अपना उपदेश समाप्त करती हुई महामोद में मग्न होकर कहती हैं कि :—

" यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥" [ई० उ० ६]

ऐ अहंमम के जामे को पहनने वाला परिच्छिन्न जीव! तूने

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि " [ई० उ० २]

इस अपरिच्छिन्नत्व प्रदान करने वाले कर्मयोगात्मक मंत्र के द्वारा पूतान्तःकरण हो, अपनी आत्मा में समस्त प्राणियों को और समस्त

" कर्मयोग "

प्राणियों में अपनी आत्मा को देख लिया। अतः तुम्हारी जुगुप्सा—घृणा—राग-द्वेष समाप्त हुई, क्योंकि तुम सर्वात्मा, सबके रूप बन गये। अतः अपने स्वरूपभूत किसी भी रूप से घृणा संभव नहीं। पुनः श्रुति भगवती दूसरे मंत्र से उस ब्रह्मस्वरूप महात्मा की आश्चर्यमयी अवस्था का दिग्दर्शन कराती हुई कह रही हैं :—

" यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥" [ई० उ० ७]

जिस विश्वरूपधारी विश्वदर्शी के लिये समस्त प्राणी अपने आत्मा ही हो गये, उस विराटी एकत्वदर्शी को सूर्यदर्शी के समान अन्धकारस्वरूप अनादि अविद्या और कार्य शोक-मोह कहां? अर्थात् इस अवस्था पर श्रुति भगवती उस महापुरुष के कृतकृत्यता का ख्यापन-यशोगान करती हुई उसे ब्रह्मत्वपदरूप स्वाराज्य पर अभिषिक्त, नित्य साम्राज्य का अच्युत सम्राट् बना कर निहाल कृतकृत्य कर देतीं। सचमुच, इस कर्मी जगत् के कल्याणार्थ इसी

" कुर्वन्नेवेह कर्माणि " [ई० उ० २]

वेदमंत्र का समस्त श्रुति, स्मृति, शास्त्रों, पुराणों, धर्मसंहिताओं एवं गीता आदि शास्त्रों में वाक्यान्तर या शब्दान्तर-भेद से उपदेश दिया गया है।

सर्वलोकहितैषी, विश्ववन्द्य, सर्वमान्य गीता महाशास्त्र का निष्काम कर्मयोग तो इसी मंत्र से सृष्ट हुआ है। बस, मानव जीवन की पूर्णता

के लिये यह एक वेदमंत्र ही पर्याप्त है। भगवान् गीता से यही कह रहे हैं :—

" स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। "

" यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥" [श्रीमद्भ० १८।४५-४६]

"तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।" [श्रीमद्भ० ४।३८]

कर्मयोगी हरितोषक स्वकर्म का अनुष्ठान करता हुआ अर्थात् स्वकर्म से ईश्वराराधन करता हुआ कालान्तर में शुद्धान्तःकरणरूप सिद्धि से सम्पन्न हो स्वयमेव ज्ञान को प्राप्त करता है। कर्मयोग के अभाव में किसी को भी,

" संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः " [श्रीमद्भ० ५।६]

ब्रह्म की प्राप्ति संभव नहीं। क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति तो अन्तःकरण की शुद्धि पर अवलम्बित है, वेष, भूषा, दण्ड, कमण्डल आदि बाह्य वेष,

" न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते " [श्रीमद्भ० ३।४]

एवं कर्मों के त्याग पर नहीं। इसीलिये भगवान् कर्मत्यागी दूषितान्तःकरण पुरुष की निन्दा करते हुये कह रहे हैं कि :—

" कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥" [श्रीमद्भ० ३।६]

" दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥" [१८।८]

" कर्मयोग "

जो शरीर के क्लेश के भय से कर्मों को छोड़कर अर्थात् कर्मों से विरत—संन्यास लेकर मन से विषयों का चिन्तन करता है, वह इन्द्रियलोलुप, विषयी, मिथ्याचारी है। उसके इस मिथ्याचार का कोई फल नहीं है, वह इस मिथ्याचाररूप त्याग से सत्याचार से प्राप्तव्य ब्रह्मरूप नित्यानन्द फल को नहीं प्राप्त कर सकता। अर्जुन की भी ठीक यही स्थिति थी। वह एक तरफ तो इन्द्रियों के भोग के लिये पांच ग्राम की मांग कर रहा था और दूसरी तरफ संन्यास की बात कर रहा था और यह कह रहा था कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, संन्यास ले लूंगा। यह भगवान् के उपदेश का, गीता का प्रतिपाद्य विषय है। इसीलिये उन्होंने

" तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते " [५।२]

उस मिथ्याचारी कर्मसंन्यासी से, जो निष्काम कर्म के अभाव में अपक्वसत्त्व होने के कारण मन से विषयों का चिन्तन करता है यानी विषयी है, उससे निष्कामकर्मी को श्रेष्ठ कहा है। इसी कारण भगवान् ने,

" ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वंद्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥" [५।३]

" अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥" [श्रीमद्भ० ६।१]

उस कर्मी को परिवार में रहते हुए नाना प्रकार का कर्मानुष्ठान करते हुए भी नित्य संन्यासी ही कहा है, जो कि कर्मफल से अनाश्रित

" योगः कर्मसु कौशलम् "

कर्मयोगरूप समत्व-बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण राग-द्वेष एवं द्वन्द्वों से मुक्त है, वह सर्वात्मदर्शी सुखपूर्वक अन्तःकरण की शुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के असाधारण कारण कर्मयोग से युक्त हो, संन्यास का मिथ्या दुराग्रह न करता हुआ, शरीर के क्लेश तितिक्षा एवं भिक्षा आदि से रहित जनक, अश्वपति, प्रवाहण, अजातशत्रु, भीष्म, निमि, व्यास, वसिष्ठादिवत् गृह पर निवास करता हुआ, सुख-शान्ति के मार्ग राजपथ का पथिक हो, बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसी से भगवान् गीता के द्वारा अर्जुन को महाज्ञानी, महाकर्मयोगी, राजपथ के पथिक, जिनसे महाविरक्त एवं समस्त सिद्धिसम्पन्न शुकदेव जी भी उपदेश ग्रहण किये थे, उस जनक का एवं अपना प्रमाण देते हुए कह रहे हैं कि :—

" कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ " [श्रीमद्भ० ३।२०]

" न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ "

" यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥"

" उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ "

" सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ [श्रीमद्भ० ३।२२—२५]

मैं कैवल्यानन्दप्रदाता आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम हूँ, मुझे मोक्ष आदि कोई अप्राप्त वस्तु भी प्राप्त नहीं करनी है, क्योंकि मैं ज्ञातज्ञेय,

"कर्मयोग"

कृतकृत्य, जीवन्मुक्त हूँ, मेरा कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं है, परन्तु फिर भी लोकसंग्रह के कारण सदैव कर्म ही करता रहता हूँ, जिससे इस कर्मी जगत् की सुव्यवस्था बनी रहे, दोष न आने पावे। क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ, तो मुझ श्रेष्ठ सुख-स्वरूप सर्वज्ञ के मार्ग का अनुसरण करने के कारण लोक भी अकर्मण्य हो जाय और मैं लोक का हनन करने वाला बनूँ, तथा महानर्थ-स्वरूप सांकर्यदोष का भी कर्ता बनूं। इसीलिये मैं जीवों के कल्याणार्थ अज्ञवत् आसक्त होकर कर्मकरता हूँ, जिससे सब मनुष्य सतत कर्म करते रहें। इस कर्मात्मक सृष्टि का कर्म ही प्रयोजन है उसका त्याग नहीं, त्याग तो प्रलय में स्वयमेव हो जाता है। दूसरे,

> "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
> स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥" [श्रीमद्भ० ३।२१]
> "अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी"

श्रेष्ठ पुरुष जो जो भी आचार करते हैं अश्रेष्ठ उसी का अनुकरण करते हैं। वे जिस कर्म या पथ को प्रमाण बताते हैं लोक उसी का अनुवर्तन करता है। तीसरे,

> "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥" [श्रीमद्भ० ३।५]
> "न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
> यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥" [श्रीमद्भ० १८।११]

कोई भी जीव अर्थात् क्या ज्ञानी; क्या अज्ञानी क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता; क्योंकि सभी प्रकृति से सृष्ट गुणों से

परवश कर्म करने को बाध्य हैं, हजारों प्रयत्न करने पर भी कर्मों का सम्पूर्णता से त्याग संभव नहीं। इस प्रकार सभी कर्मी—कर्मयोगी हैं। अतः कर्मयोग की व्यापकता, प्रधानता एवं विशिष्टता निर्विवाद स्वतः सिद्ध ही है। इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिये भगवान् पुनः कह रहे हैं कि जो मिथ्या ज्ञानाभिमानी हैं वे कर्मों के त्यागने में समर्थ न होने पर भी वाणी से त्याग की वार्तामात्र करते हैं। वस्तुतः सच्चे ज्ञानी नहीं हैं; क्योंकि—

" सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥" [श्रीमद्भ० ३।३३]

ज्ञानी—गुणातीत पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करने को बाध्य हैं इसलिये कि सभी जीव अपनी प्रकृति से परवश हैं। अतः निग्रह—शरीर से कर्मों का निग्रह—त्याग संभव नहीं। आज तक सृष्टि में कोई भी ऐसा पुरुष प्रमाण नहीं हुआ जो शरीर से कर्मों का त्यागी हुआ हो और न भविष्य में संभव ही है।

" यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥" [श्रीमद्भ०१८।५९]

" स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा । [श्रीमद्भ०१८।६०]
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥"

और यदि कोई अहंकारान्ध दुराग्रही पुरुष कहता है कि मैं कर्म नहीं करूँगा तो उसका यह अविवेकयुक्त निश्चय व्यर्थ हो जायेगा,

" कर्मयोग "

क्योंकि प्रकृति उसको बलात् कर्म में जोड़ देगी । दूसरे, प्रत्येक जीव अपने स्वाभाविक कर्म से बद्ध है, अतः अविवेक से जो उसका कर्मों का त्याग है वह संभव नहीं, उसे बलात् कर्म करना ही पड़ता है । तीसरे,

" ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।" [श्रीमद्भ० १८।६१]

समस्त ब्रह्माण्ड का शास्ता सर्वसमर्थ ईश्वर सबके हृदयदेश में स्थित हो अपनी माया से समस्त प्राणियों को भ्रमाता हुआ अर्थात् स्वप्रकृति के अनुसार सबको अपने-अपने कर्म में जोड़ता हुआ स्थित है, इसलिये भी सब जीव कर्म करने को परतन्त्र हैं । अतः,

" कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते " [श्रीमद्भ० ३।७]

अन्तःकरण से अनासक्त हो बाह्यकरण—कर्मेन्द्रियों से विशिष्ट कर्मयोग का ही आचरण करना चाहिये ।

" नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।" [श्रीमद्भ० १८।७]

कभी भी स्वकर्म का त्याग नहीं करना चाहिये । अपितु,

" मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ।।" [श्रीमद्भ०१८।२६]

अनासक्त एवं निरहम्—कर्तृत्वबुद्धि से मुक्त हो, धैर्य तथा उत्साह से युक्त हो, सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार हो अर्थात् सम हो सदैव कर्म करना चाहिये; क्योंकि

" कर्मण्येवाधिकारस्ते "
" मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि " [श्रीमद्भ० २।४७]

" योगः कर्मसु कौशलम् "

शरीरधारी जीव का कर्म में ही अधिकार है, कर्म के त्याग में नहीं अर्थात् उसे कर्म ही करना चाहिये, कर्म का त्याग नहीं। क्योंकि,

" नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥" [श्रीमद्भ० ३।७]

कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, इसलिए कि कर्म न करने से कर्म से सृष्ट इस कर्मी शरीर की यात्रा —निर्वाह—भरणपोषण भी नहीं सिद्ध होगा। अतएव,

" योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥"
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥'
[श्रीमद्भ० २।४८—५१]

जीव को ब्रह्मबुद्धि से युक्त अनासक्त हो, सिद्धि-असिद्धि में सम होकर शरीर निर्वाहक मुक्तिप्रद कर्म ही करना चाहिए; क्योंकि समत्व को ही अमृतत्व–नित्यानन्द–ब्रह्मानन्द प्रदान करने वाला योग कहते हैं। अतः यह कर्मयोग अवश्य करणीय है।

"कर्मयोग"

"युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ [श्रीमद्भ० ५।१२]
"कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।" [श्रीमद्भ० १७।२७]
"संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः । [यो०वा० ५।६८।१०]
"दुःखजालमिदं नाम यत्किंचित् जगतीतलम् ।
संसक्तमनसामर्थे तत्सर्वं परिकल्पितम् ॥" [यो० वा० ५।६८।४६]
"संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ।" [यो० वा० ५।६८।४७]

इस शास्त्र वचनानुसार सत्यस्वरूप भगवदर्थ कर्मयोग अमृत—ब्रह्मप्राप्ति का हेतु होने के कारण वन्धनकारक दुःखप्रद सकामकर्म से अत्यन्त श्रेष्ठ है । इतना ही नहीं, वह,

"तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ [श्रीमद्भ० ६।४६]

तपस्या और ज्ञान से भी श्रेष्ठ है और मुक्ति का भी अद्वितीय कारण है ।

"संसारोत्तरणे तत्र न हेतुर्वनवासिता ।
नापि स्वदेशवासित्वं न च कष्ट तपः क्रियाः ॥
न क्रियायाः परित्यागो न क्रियायाः समाश्रयः ।
नाऽचारेषु समारम्भ विचित्र फलपालपः ॥
स्वभावः कारणं नाम संसारोत्तरणं प्रति ।
असंसक्तमनो यस्य स तीर्णो भवसागरात् ॥
शुभाशुभाः क्रिया नित्यं कुर्वन्परिहरन्नपि ।
पुनरेति न संसारमसंसक्तमना मुनिः॥" [यो०वा०नि०उ० १९९।३०-३३]
"निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरूपजायते ।
प्रवृत्तिरपिधीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥" [अष्टा० गी०]

" योगः कर्मसु कौसलम् "

संसार–सागर को पार करने में न तो वनवास ही समर्थ है, न तो स्वदेश निवास समर्थ है, न विविध प्रकार की कष्टप्रद तपस्यायें ही हेतु हैं, न तो कर्मों का त्याग ही हेतु है; न तो सत्कर्मों से होने वाले ख्यातिलाभ; ऐश्वर्य एवं वर-शापरूप विचित्र फलराशियाँ ही हेतु हैं अपितु कर्मयोग से प्राप्तव्य केवल अनासक्ति ही भवसागर पार होने का एक मात्र हेतु है। अनासक्त पुरुष नित्य शुभाशुभ व्यवहार का ग्रहण-त्याग करता हुआ भी पुनः संसार में नहीं आता और आसक्त शठ, दुर्मति पुरुष शरीर से शुभाशुभ क्रियाओं का बाहर से त्याग करने पर भी संसार-सागर में अवश्य ही निमग्न होता है। आसक्त मूढ़ पुरुषों की कर्मों से निवृत्ति भी प्रवृत्ति—बन्धन का ही हेतु बनती है और धीर—अनासक्त कर्मयोगी पुरुष की प्रवृत्ति भी निवृत्ति—मोक्षफलदायिनी होती है। इसलिये अवश्य ही करणीय है। दूसरे, कर्मयोगयुक्त समत्वबुद्धि यहीं जीवनकाल में सुकृत-दुष्कृत को नष्ट करके सर्वात्मदर्शन के द्वारा जीवन्मुक्ति प्रदान करके जीव को सुखी; निहाल कृतकृत्य कर देती है। इसलिये भी समत्व–बुद्धिरूपी योग का अनुष्ठान आवश्यक है; क्योंकि योग—समत्वबुद्धि ही कर्म में कुशलता—असंगत्व—अकर्तृत्व प्रदान करती है। इसी

" त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः [श्रीमद्भ० ४। २०]
" समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते " [श्रीमद्भ० ४।२२]

समत्व—अनासक्त—असंग बुद्धि से माया से मुक्त पुरुष परमात्मा में नित्य तृप्त होने के कारण कर्म करने पर भी मुक्त अकर्मी ही बना रहता है। इसी के महत्त्व से

" कर्मण्यकर्म यः पश्येत् " [श्रीमद्भ० ४।१८]

" कर्मयोग "

पुरुष के कर्म अकर्मत्व—दिव्यत्व—चिन्मयत्व को प्राप्त हो जाते और भर्जित् बीजवत् जन्म के हेतु नहीं बनते, क्योंकि ईश्वरार्पित कर्म मुक्त ईश्वरस्वरूप ईश्वर के हो जाते हैं। इसी योगरूप महासामर्थ्य से सम्पन्न हो ब्रह्मा अघटित घटनाघटित विचित्र सृष्टि करते; विष्णु पालन करते एवं नाना शरीर धारण करते हुये भी निर्दुःख रहते, शंकर संहार करते हुये भी शान्त अपने शिवत्व में स्थित रहते। इसी के प्रभाव से बलि ने वामन को सर्वस्व दान किया। इसी से प्रह्लाद कर्मी होने पर प्रह्लाद—निरतिशयानन्द में मग्न रहे, जनक निर्द्वन्द्व विगतज्वर हो ब्रह्मानुसंधान करते हुये राज्य किये, भीष्म ने प्रवाहपतित युद्ध किया, हनुमान ने लंकापुरी का दहन किया; भरत ने अयोध्या के सुख का त्याग किया। इसी के प्रभाव से वसिष्ठ पुरोहिती—जैसा निन्द्य कर्म करने पर भी मुक्त रहे। इसी से दिलीप ने राज्य का शासन किया। इसी से जीवन्मुक्त मनु ने प्रजाओं का पालन किया; पाराशर ने मच्छोदरी का आलिंगन किया और निर्विकार बने रहे। इसी से भृङ्गीश ने अपने शरीर का रक्तमांस आदि नोच कर माता को दे दिया। इसी से विश्वविख्यात विश्वामित्र सतत् यज्ञानुष्ठान में संलग्न रहते। इसी के प्रभाव से दुर्गा दुष्टों का संहार करतीं, चुड़ाला ने राज्य किया और पति को परमात्मतत्त्व प्रदान किया, हेमलेखा ने अपने पति विषयी राजा को भी मुक्त किया। इसी के कारण सुमित्रा ने लक्ष्मण को राम की सेवामें समर्पित किया, सीता ने स्वर्णिम लंका का त्याग किया। इसी के प्रभाव से सूर्य आकाश में असंग विचरते, इसी की महिमा से अग्नि सर्वभक्षण करती हुई भी निर्लिप्त रहती, वायु भी इसी के कारण सर्वत्र विचरने पर भी निर्विकार रहता। कहाँ तक कहा जाय, इसी महायोग के

"योगः कर्मसु कौशलम्"

प्रभाव से सृष्टि के समस्त महापुरुष मुक्त हुए और कर्म करते हुए भी अकर्मी—निर्लिप्त रहे हैं। यह योग ही कर्म में कुशलता—निर्लिप्तता प्रदान करता है। अर्थात्

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्मकौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥" [श्रीमद्भ० ३।९]

"कर्मणा बध्यते जन्तुः" [सं० उ० २।९८]

जीवार्थ कर्म जो बन्धन का हेतु है, उससे मुक्ति प्रदान करता है; अकथनीय है इसकी महिमा।

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात्" [श्रीमद्भ० २।४०]

इस ईश्वरानुग्राहक -सार्वभौम महान् धर्म का थोड़ा भी आचार—अनुष्ठान संसार के महान् भय—जन्ममृत्युजराव्याधि से रक्षा करने वाला अर्थात् जीवन्मुक्ति प्रदान करने वाला है। इसी से कर्मफल के त्यागी ऋषि-महर्षिगण महान् बन्धन से मुक्त हो, परम-तत्त्व परमात्मा को प्राप्त कर सुखी हुए। यही मोहावरण नष्ट करके जीव को स्वरूपस्थिति प्रदान करने में समर्थ है, यही साम्यामृत के द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड को मधुमय—रसमय—अमृतमय—आनन्द-मय बनाने में समर्थ है, यही जीव-शिव का योग—महामिलन—विवाहोत्सव—आलिंगन—एकता कराता, उससे रति, प्रीति, क्रीड़ा, विनोद कराकर सर्वात्मदर्शन के द्वारा भूमानन्द में मग्न कर समता के साम्राज्य पर आरूढ़ कर देता। ऐसे परम पुनीत योग को नम-

स्कार है, इसकी महिमा अनन्त है। भला, ऐसे कर्मयोग की मूढ़ों को छोड़कर कौन स्पृहा नहीं करेगा? इसलिये सभी को;

" तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ [श्रीमद्भ० ३।१६]
" युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्" [श्रीमद्भ०५।१२]
" सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता।"

मोक्षप्रद परमपद परमात्मा के प्रापक कर्मयोग का अनासक्त-बुद्धि से अवश्यमेव सेवन करना चाहिए।

महागृहस्थ भगवान् भी भागवत के द्वारा यही उपदेश दे रहे हैं :—

" मद्वार्ता यातयामानां न बन्धाय गृहा मता।"
" वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिम्" [श्रीमद्भा० ११।३।४६]
" अस्मिल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्ति वा यदृच्छया ॥" [श्रीमद्भा०११।२०।११]

जो कर्मी गृहस्थ मेरी वार्ता एवं चिन्तन; मनन से समय व्यतीत करते हैं अर्थात्

" तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ [श्रीमद्भ० ८।७]

कर्मानुष्ठान काल में भी जिसका मन सदैव मुझमें लगा रहता है यानी जो असंगबुद्धि से ईश्वरार्थ कर्म करते हैं उनका कर्म एवं गृह

बन्धन का हेतु नहीं होता ; क्योंकि वे विशुद्ध ज्ञान एवं भक्ति को प्राप्त करने के कारण बन्धन में नहीं पड़ते ; मुक्त ही रहते हैं। इसीलिये अनन्त-अनन्त गोपियों का गृहनिवास बन्धन का हेतु नहीं बना; उन्होंने भगवद्गीत तदाचारिता, तदाकारवृत्ति एवं भगवन्तन्मयता से अपने समस्त कर्मों को पवित्र निर्विकार बना दिया था; उनका सब व्यापार ब्रह्मरूप हो गया था। रासस्थली से गोपियां घर नहीं जाना चाहती थीं, परन्तु भगवान् ने उन्हें कृतकृत्य जीवन्मुक्त समझ कर गृहत्याग करने से रोक दिया और घर पर ही निवास करने का आदेश दिया और कहा कि तुम्हारे लिए गृह बन्धन का हेतु नहीं है। जो ऐसी अवस्था से युक्त नहीं हैं उन्हीं के लिये गृह बन्धन का हेतु बनता है। बस्तुतः जिसका मन एवं जिसकी बुद्धि परमात्मा में समर्पित है, वह अनासक्त सर्वात्मभूत ब्रह्मवेत्ता,

: सर्वकर्मपरित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
न पुण्येन न पापेन नेतरेण च लिप्यते ॥

स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा नायाति रञ्जनम् ।
तज्ज्ञः कर्मफलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥" [अ०उ० ५।६७-६८]

:: कर्मभिः सकलैरपि लिप्यते ब्रह्मवित्प्रवरश्च न सर्वथा ।
पद्मपत्रमिवाद्भिरद्धो परब्रह्मवित्प्रवरस्य तु वैभवम् ॥ [सू०सं०पू० ४।२५]

:: योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ [श्रीमद्भ० ५।७]

"कर्मयोग"

कर्म करता हुआ भी पद्मपत्रवत् कर्म से लिप्त नहीं होता सदैव मुक्त ही रहता है। वह

"सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ [श्रीमद्भ० १८।५६]
" सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते " [श्रीमद्भ० ६।३१]
" स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत " [श्रीमद्भ० ४।१८]

इस समत्व—असंग बुद्धि के प्रभाव से सर्वथा सर्व प्रकार का समस्त विधि-निषेधात्मक कर्म करता हुआ भी ईश्वर के प्रसाद का भाजी हो, शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त करता है। इसी परावरैकत्व विज्ञान पद्मा-बिनी समत्वबुद्धिरूपी योग की महिमा से,

"न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुसज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावीच्छिन्नसंशयः ॥" [श्रीमद्भ० १८।१०]

कुशल-अकुशल; जड़-चेतन; जीव-शिव; प्रकृति-पुरुष; बन्ध-मोक्ष; सत्यासत्य; धर्माधर्मस्वरूप द्वन्द्वात्मक जगत् एकता को प्राप्त कर जाता; अज्ञानात्मक गुण-दोष की बुद्धि शान्त हो; निर्गुणत्व—ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाती। इसी

"सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥" [महो० ६।२]
" यस्य नाहङ्कृतोभावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥" [श्रीमद्भ १८।१७]

"योगः कर्मसु कौशलम्"

परमामृतनाम्नी निर्लिप्त समत्वबुद्धिरूपी योग के सामर्थ्य से बन्धनप्रद कर्तृत्वबुद्धि—अहंकृति के शान्त हो जाने पर सर्वात्मदर्शी पुरुष त्रैलोक्य का हनन करने पर भी निष्क्रिय निर्विकार एवं मुक्त ही रहता है। इसी कारण से रामकृष्णादि अवतार सदा संहार में प्रवृत्त होने पर भी मुक्त निर्दोष ही रहे। इसी समत्वबुद्धिरूपी योग में मग्न होने के कारण जीने और मरने में समता को प्राप्त जीवन्मुक्त दधीच ऋषि शरीर का देवताओं के लिये तृणवत् परित्याग कर दिये। इसी साम्यामृत को पीकर अमर बने हुये राजा शिवि ने अपने शरीर का मांस एक तुच्छ कबूतर पक्षी की रक्षा के लिये काट-कर बाज को दे दिया। इसी अनासक्तामृत के कारण निर्मोही मयूर-ध्वज ने अपने प्रिय पुत्र को चीरा, इसी से नारद का कलह कलह—दुःख का हेतु नहीं बना। इसी के बल से भीष्म ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया। इसी समत्व—असंग बुद्धि के रहस्य को समझने के कारण अर्जुन का युद्ध जैसा भयंकर हिंसात्मक क्रूर कर्म भी अन्तः-करण की शुद्धि एवं मोक्ष का हेतु बन गया। इसी के कारण सदन कसाई का कसाई वृत्ति का हिंसात्मक कर्म अहिंसा का रूप धारण कर मुक्ति का हेतु बना। इसी से महानरक का द्वार दुर्वासा का महाक्रोध, वामन का महालोभ; एवं कृष्ण का महाकाम नरक का हेतु नहीं बन सका। कहां तक कहा जाय; इसकी महिमा अनन्त है। इसकी अनुभूति इसके शरणापन्न होकर ही पूर्णरूपेण की जा सकती है। श्रुति भी इसकी महिमा का वर्णन करती हुई कहती है कि :—

" यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते
हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान्भुङ्क्ते
न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः ॥" [अव० उ० ६]

" कर्मयोग "

जैसे सूर्य सब रसों का आस्वादन करता हुआ एवं अग्नि सर्वभक्षण करती हुई भी निर्दोष, निर्विकार रहती है वैसे ही योगी नाना प्रकार के विषयों का उपभोग करता हुआ भी पुण्य-पाप से लिप्त नहीं होता, शुद्ध मुक्त ही रहता है।

" ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन्कथं बध्येत कर्मणा " [व० उ० २।१७]

" सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते " [म० स्मृ० ६।७४]

जो कर्मों के लक्ष्यभूततत्त्व नित्यानन्द ब्रह्म को सदा देखता है अर्थात ब्रह्मानुसंधान करता हुआ कर्म करता है, वह सम्यग्दर्शी सूर्यदर्शी की भांति अज्ञानात्मक कर्मरूपी अन्धकार से आवृत्त नहीं होता अर्थात् बन्धन को प्राप्त नहीं होता, नित्यमुक्त ही रहता है। क्योंकि वह

" तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥" [श्रीमद्भ० १५।४]

उस सनातन सृष्टि परम्परा के संचालक विश्वाधिष्ठान आद्य परम पुरुष परमात्मा के शरणापन्न हो; कर्म के स्रष्टा; कर्म के प्रेरक कर्मात्मा ब्रह्म की उपासना करता हुआ यह अनुभव करता है कि वह सर्वात्मा ब्रह्म कर्मों के आगे; काल के आगे; देश के आगे; वस्तु के आगे; व्यक्ति के आगे; दर्शनों के आगे; रूपों के आगे; रसों के आगे; गन्धों के आगे; स्पर्शों के आगे; शब्दों के आगे; सर्व के पूर्व, प्रपञ्च के पूर्व—आगे,

" गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात् ।
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चे तु ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ॥"

[यो०शि० ४।१९-२०]

घट के मृत्तिकावत् वलात् भास रहा है; क्योंकि वह

" यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म " [वृ०उ० ३।४।१]

" एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन " [अ० उ० ६३]

इस श्रुति-सिद्धान्तानुसार साक्षात् प्रत्यक्ष है, उस एक अद्वय को आवृत करने वाली कोई अन्य वस्तु ही नहीं है। यदि वह चैतन्य-सत्ता नहीं होती तो जगत् का भान नहीं होता, जगदांध्यदोष उपस्थित हो जाता; परन्तु

" तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " [मु० उ० २।२।१०]

इस श्रुति वचनानुसार कार्य जगत् का भान होता है इसलिये वह कारणस्वरूप सर्वावभासक सत्ता स्वयमेव सिद्ध ही है, किसी की अमान्यता से उसकी अमान्यता नहीं होगी। अपितु जिस महामान्यसत्ता से अमान्यता की भी मान्यता सिद्ध होती है वही वह महामान्य स्वरूपभूत ब्रह्मसत्ता है।

" इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः " [के०उ० २।५]

" तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति " [प्रश्नो० ६।६]

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ [श्वे० उ० ६।२०]

इसकी मान्यता से जीव मृत्यु की व्यथा से मुक्त हो जाता है और अमान्यता से शोक-मोहग्रस्त सदैव दुःखाक्रान्त ही रहता है।

" दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता " [श्रीमद्भ० १६।५]

" कर्मयोग "

इस निष्काम कर्म से ही जीव दैवी-सम्पत्ति से सम्पन्न हो मोक्ष—ब्रह्म को प्राप्त कर शोक-मोह से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। अतः निष्काम कर्म ही एकमात्र मुक्ति का साधन है अन्य नहीं। ऐसे ही स्मृति का भी आदेश है कि :—

" स्वधर्मेण यथा नृणां नरसिंहः प्रसीदति।
न तुष्यति तथान्येन कर्मणा मधुसूदनः ॥" [हा० स्मृ० ७।१९-२०]

स्वकर्म से जिस प्रकार परमात्मा प्रसन्न होता है उस प्रकार से अन्य साधन से नहीं। इसीलिये भगवान् ने

" तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते " [श्रीमद्भ० ५।२]
" योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये" [श्रीमद्भ० ५।११]

कर्मसंन्यास से कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा है। निष्काम कर्मयोगी को कर्म करते हुए ही शुद्धसत्त्व होने के कारण,

" अचिरेणाधिगच्छति " [श्रीमद्भ० ४।३९]

विद्युतवत् क्षणमात्र में स्वयमेव ब्रह्मज्ञान हो जाता है, परन्तु अन्तः करण के शोधक निष्काम कर्म के अभाव में,

" संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः " [श्रीमद्भ० ५।६]

केवल संन्यासमात्र से ब्रह्मप्राप्ति संभव नहीं। जैसे पक्षी अपने दोनों पक्षों से ही आकाश में कुशलता से उड़ता हुआ अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त करता है वैसे ही जीव कर्म एवं समत्व-ब्रह्मबुद्धि, इन दो पक्षों-साधनों के द्वारा ही संसार में कुशलता से उड़ता हुआ अर्थात

" योगः कर्मसु कौशलम् "

संसार के कर्माचार में भी निर्लिप्त रहता हुआ अपने गन्तव्य स्थान नित्यानन्दस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। इसीलिये भगवान् अर्जुन को,

" तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च " [श्रीमद्भ० ८।७]

इन्द्रियों से कर्म करने का आदेश दे रहे हैं और साथ ही साथ मन से कर्मों के लक्ष्यभूत तत्त्व कर्मात्मा—नित्यानन्द ब्रह्म के स्मरण का भी आदेश दे रहे हैं, क्योंकि

" कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन " [श्रीमद्भ० २।४७]

कर्म बंधन का हेतु नहीं। इसलिये कि उसमें तो शरीरधारी जीव का स्वाभाविक अधिकार ही है उसका त्याग संभव नहीं। फल की आसक्ति ही बंधनरूपा है अतः वही त्याज्य है। क्योंकि

"देहमात्रे हि विश्वासः सङ्गो बन्धाय कथ्यते " [अन्न० उ० २।२]

देहासक्ति—अध्यस्त देह की आसक्ति—अहंबुद्धि ही स्वरूपभूत अधिष्ठानसत्ता को आवृत करने वाली है और यही बन्धनप्रद; समस्त व्यभिचार एवं सर्वानर्थ की मूल जननी है। इसी से जीव विपरीत दर्शन के द्वारा स्वरूप की विस्मृति के कारण सच्चिदानन्द-घनब्रह्म की गोदी से विमुख—वहिर्मुख हो; पिण्ड-ब्रह्माण्ड में आसक्त; उसको सत्य मानकर नाना प्रकार की दुःखमूलक शुभाशुभ योनियों को प्राप्त होता रहता है कभी भी दुःखों से मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिये भगवान् सर्वोपनिषदिक गीता महाशास्त्र के द्वारा दुःखों के मूल कारण आसक्ति का त्याग कराते हुए सुखों के धाम अनासक्ति के लिए शरीर

के स्वाभाविक धर्म—कर्म से विरत न होने के लिये आदेश दे रहे हैं। श्रुति का भी यही दिव्य अमर संदेश है कि :—

" अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान् ।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन्वा कर्ताभोक्ता न हि क्वचित् ॥"

[अन्न० उ० १।५७]

" अन्तःसर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथागतम् "

जीव अन्तःकरण से अनासक्त सर्वपरित्यागी हो। अथवा अन्तःकरण के अन्तस्तल में छिपा हुआ जो,

" असङ्गो ह्ययं पुरुषः [बृ० उ० ४।३।१५]

असंग, नित्य, निर्विकार, सुखस्वरूप सुधासिन्धु—अन्तरात्मा है, उस

" रसो वै मधु " [शतपथ ब्राह्मण ७।५।१।४]

रसपति, मधुपति के माधुर्य से सम्पन्न—सिक्त मधुर—अमृतवृत्ति वाला हो अर्थात् सबको मधु—अमृत—ब्रह्मरूप देखते हुए यानी सर्वत्र अमृत-ब्रह्मदृष्टि की वृष्टि करते हुए, उसी से रति, प्रीति, क्रीड़ा, विनोद करते हुए, उसमें तन्मय, तद्रूप, महामग्न हों, बाह्य इन्द्रियों से यथाप्राप्त कर्म करते हुए भी कर्ता, भोक्ता नहीं होता। इसलिए कि वह मधु सुखस्वरूप होने के कारण कर्ता नहीं हो सकता और मधु ब्रह्मभुक्—नित्यानन्द-परमानन्द सुधासिंधु का भोगी होने के कारण सांसारिक क्षुद्र विषयों का भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि वह अक्षयानन्द—भूमानन्द—निरतिशयानन्द का चक्रवर्ती सम्राट है।

"योगः कर्मसु कौशलम्"

इसलिये कि वहां पर विज्ञानोदय के कारण कर्ता, कर्म, क्रिया, भोक्ता, भोग्य, प्रेरक, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, ध्याता, ध्यान, ध्येय, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि अज्ञानात्मक भ्रामक त्रिपुटी—दृश्यप्रपंच—देश, काल, वस्तु का

" विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभातिदिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय ॥" [अन्न० उ० ४।२७]

दिक् भ्रमाभाववत् अभाव हो जाता, सर्वत्र अनवच्छिन्न ब्रह्मसत्ता का साम्राज्य छा जाता। उस काल में उस

" अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्पठन् ।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥" [अन्न० उ० १।३४]

स्वरूपानन्द में मग्न सर्वात्मदर्शी अद्वयभूमा जीवन्मुक्त पुरुष के लिये यह विश्व अरण्यवत् परम एकान्त, शान्त, निर्वाणस्वरूप हो जाता। वह सर्वदा सर्वकाल में द्वैतदर्शनरूप विक्षेप से रहित अनिर्वाच्य परमपदरूप परमात्मतत्त्व में मग्न रहता। उस काल में वह महा-निष्कामी अलौकिक दिव्य कर्मी,

" अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ॥" [श्वे० उ० ३।१९]

" नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि........ ॥" [श्रीमद्भ० ५।८-९]

सर्वसमर्थ वेदवेद्य ब्रह्म ही बिना हाथ के ग्रहण करता, बिना पैर के चलता, बिना आँख के देखता और बिना कान के सुनता। देखते

हुये भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता, बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, खाते हुए भी नहीं खाता, शरीर से ग्रहण-त्याग का समस्त व्यापार करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता, नित्यमुक्त अकर्ता ही रहता है। वह जीवन्मुक्त अपने अद्वैत स्वाराज्यरूप सिंहासन पर " सर्वं ब्रह्म " की दृष्टि से भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, द्रव्याद्वैतरूप ब्रह्मात्मक त्रिविध अद्वैत का खेल खेलता हुआ सर्वात्मदर्शनरूप महायोग के सामर्थ्य से सम्पन्न हो, अपनी अद्वैतामृतवर्षिणी दिव्य दृष्टि से द्वैतपाशरूप पाश से बद्ध जीवों को अनायास अपने सहज स्वभाव से मुक्त करता रहता अर्थात् सबको मुक्त आत्मदृष्टि से आत्मरूपेण देखता रहता, सबको अपने ज्ञानालोकरूप दिव्य कर्म, दिव्य नाम, दिव्य-रूप, दिव्य लीला एवं विराट्रूप दिव्य धाम में सात—सम्मिलित—एकीभूत कर लेता, सबका स्वरूप बन जाता, सबको अपना स्वरूप बनाकर एक में अनेक का खेल खेलता, सबसे प्रेमालाप, क्रीडा, विनोद करता हुआ समता के साम्राज्य पर समारूढ़ हो जाता। वह सर्वसमर्थ कृतकृत्य जीवन्मुक्त पुरुष कर्म, काल, वेद, माया एवं ईश्वरादि के शासन से मुक्त ब्रह्मरूपेण संस्थित सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वराट् हो जाता। वह अपनी सर्वातीत सर्वातिशायी भूमारूप अखण्ड महा-महिमा से सदैव महिमान्वित रहता, जो लेखनी एवं वाणी का विषय नहीं, केवल अनुभवगम्य है। इसी अवस्था में वास्तविक सुधार, संगठन, समता, शान्ति, एकता, मुदिता, मैत्री की प्राप्ति होती और सच्चा स्वाराज्य होता। यहीं पर,

" अयं बन्धुरयं नेति गणनालघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥" [महो० ६।७१]

" योगः कर्मसु कौशलम् "

[कोटिमातृहितैषिणी इस श्रुति माता के आदेशानुसार] समस्त ब्रह्माण्ड अपना कुटुम्ब बन जाता, सब चिरपरिचित परम मित्र बन जाते। यहीं पर विश्व के हितार्थ कुटुम्बवत् स्वाभाविक प्रवृत्ति होती। इसी स्थिति में समस्त ब्रह्माण्ड,

" रसो वै सः " [तै० उ० २।७]

की दृष्टि से रसमय, मधुमय, अमृतमय, आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप बन जाता, जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती आनन्द ही आनन्द की प्राप्ति होती। यहीं पर समस्त प्राणी अपने स्वरूप बनते, यहीं पर सबके नाम, सबके रूप, सबके धाम, सबके देश, सबकी बुद्धि, सबका लक्ष्य, सबकी गति, सबकी मति, सबकी चेष्टा, सबके आहार, सबके विहार आदि सब अपने हो जाते, राग-द्वेष नष्ट हो जाता, एकता का साम्राज्य व्याप्त हो जाता, लोक की सुव्यवस्था हो जाती, सब हिलमिल कर गले से गला मिलाकर एक होकर रहते, सब सबके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझते। यहीं पर,

" आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत् ॥
अनुकूलानि सर्वाणि परेभ्यश्च समाचरेत् ॥"

इस सर्वहितैषी सर्वमान्य सर्वानुकूल व्यापक सार्वभौम महाधर्मादेशानुसार आत्मदृष्टि से सबके अनुकूल सबका व्यापार स्वयमेव होने लगता। यहीं पर कर्मयोग का यथार्थ रहस्य ज्ञात होता। यहीं पर भोग, योग हो जाता। इसी अवस्था में कृष्णवत् महाकर्तृत्व, महाभोक्तृत्व एवं महात्यागित्व की सिद्धि होती। यहीं पर समता की

पूर्णता होती, वन्धन का वन्धन नष्ट होता, मुक्ति की भी मुक्ति हो जाती।

" इदं कर्मंत्यजामीदमाश्रयामीति निर्णयः।
मूढस्य मनसोरूपं ज्ञानिनस्तु समा स्थितिः॥
प्रवाहपतितंकर्म स्वयमेव क्रियते तु यत्॥
जीवन्मुक्तस्वभावोऽयं सा जीवन्मुक्तता तथा॥
प्रवाहपतितं कर्म कुर्वन्तः शान्तचेतसः।" [यो०वा०नि०पू०६५।५,४,६]

यहीं पर अश्रेष्ठ-श्रेष्ठ कर्मों के त्याग एवं ग्रहण की मूढ़ों की प्रवृत्ति शान्त होती। यहीं पर जीवन्मुक्तों द्वारा शिष्ट परम्परा से प्राप्त कर्म स्वाभाविकरूपेण शान्त मन से यन्त्रवत् स्वयमेव चलते रहते। यहीं पर,

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ [श्रीमद्भ० ४।१६-१८]

जिस कर्माकर्मविकर्म के रहस्य को समझने में वड़े-वड़े कवि—विद्वान् भी मुग्ध हुए हैं, उस कर्म की गहन गति का रहस्य समझने में आता है कि लोक के विद्वानों द्वारा शरीर की क्रिया-अक्रिया से जो जीव को कर्मी-अकर्मी कहा जाता है, वह

" मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः " [श्रीमद्भ० ११।१६।४२]

" योगः कर्मसु कौशलम् "

मूढ़ देहाभिमानी पण्डितों की लौकिक अज्ञानमूलक सामान्य बुद्धि है। वस्तुतः आत्मा तो,

" साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च " [श्वे० उ० ६।११]
" निष्कलं निष्क्रियं शान्तम् " [श्वे० उ० ६।१९]
" असङ्गो ह्ययं पुरुषः " [बृ० उ० ४।३।१५]

साक्षी, निष्क्रिय, असंग है वह शरीर की क्रिया से क्रियावान् नहीं होता और न अक्रिय होने से अक्रिय ही होता है। परन्तु मूढ़ देहाध्यासाभिनिवेश के कारण देह के धर्म को आत्मा में अध्यारोप करके देह की क्रिया से उसे क्रियावान् और अक्रिया से अक्रियावान् मानते हैं। इसी सामान्य लौकिक बुद्धि का भगवान् आत्मदृष्टि से परिहार करते हुये कर्म के गहनत्व का प्रतिपादन कर रहे हैं कि मूढ़ सकामी देहाभिमानी पुरुष कर्म में कर्म एवं अकर्म में अकर्म दर्शन करते हैं। यह मूढ़ों के दृष्टि का प्रत्यक्ष अनात्म जागतिक—भौतिक दर्शन है। परन्तु यह आम्नायमस्तक—वेदान्त, गीता एवं महापुरुषों का दर्शन नहीं है।

" सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति " [क० उ० १।२।१५]

इस श्रुति सिद्धान्तानुसार समस्त दर्शनों का दर्शन जिससे होता है और समस्त दर्शन जिसके दर्शन के लिये हैं वह समस्त दर्शनों का दर्शनस्वरूप साक्षी चैतन्य आत्मतत्त्व सकाम बुद्धि से सृष्ट शरीर के दर्शन से दर्शन नहीं देता, अपितु निष्काम बुद्धि से शरीर के अदर्शन से ही उसका दर्शन होता है। इसीलिए भगवान् शरीर के दर्शन—क्रिया से उसके दर्शन का अपलाप करते हुए उसको शरीर से

" कर्मयोग "

पृथक् साक्षी बतला रहे हैं कि अर्जुन ! तुझ वेदान्ती की जो यह देहात्मबुद्धि है कि मैं कर्म करूँगा तो कर्ता होऊँगा , नहीं करूँगा तो नहीं, ऐसी बात नहीं है। आत्मा तो शरीर की क्रिया-अक्रिया में सूर्यवत्-दीपवत् सम शान्त साक्षी रूप से स्थित रहता है। अतः शरीर का धर्म उस पर आरोपित नहीं किया जा सकता —यह अनुभवी पुरुषों का और मुझ

" वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः " [श्रीमद्भ० १५।१५]
" वेदविदेव चाहम् " [श्रीमद्भ० १५।१५]

वेद्वेद्य वेद्वेत्ता सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सर्वज्ञ ईश्वर का मत-दर्शन है, मूढ़ों का नहीं। अतः मूढ़ता एवं दुराग्रह को छोड़कर मोक्षप्रद संकल्प रहित—निर्विकल्प मुक्त ब्रह्म स्वरूप प्रवाहपतित कर्म को करते हुए मुक्त हो जाओ। क्योंकि यदृच्छयाप्राप्त महापापस्वरूप हिंसात्मक क्रूर कर्म भी ब्रह्मस्वरूप है और संकल्प विकल्पयुक्त महाधर्मस्वरूप अहिंसात्मक कर्म बन्धनस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि,

" इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशोमोक्ष उच्यते " [महो० ५।११६]

इस श्रुतिसिद्धान्तानुसार इच्छा ही अविद्या—वंधन है और अनिच्छा ही मुक्ति है। जहां अनिच्छा है वहीं ब्रह्म है और जहां इच्छा है वहीं अविद्या—वंधन है। या अनिच्छा ही अनिच्छ ब्रह्म है और इच्छा ही इच्छारूपी अविद्या—वंधन है। अनिच्छ जीव ब्रह्म है और इच्छासम्पन्न ब्रह्म जीव होता है। इसीलिये भगवान्

" वासुदेवः सर्वम् " [श्रीमद्भ० ७।१९]

की बुद्धि के द्वारा हेयोपादेय ग्रहण-त्याग की बुद्धि से रहित आप्तकाम पूर्णकाम जीवन्मुक्त होने का उपदेश दे रहे हैं। यह कवियों—विद्वानों से अगम्य—अग्राह्य कर्म की गहन गति है। अर्जुन! संकल्प विकल्प के द्वारा अपना हनन मत करो अर्थात् आत्मस्वरूप परमात्मा का अदर्शन मत करो। यानी उस आत्मस्वरूप परमात्मा के अदर्शन के द्वारा,

" असूर्या नाम ते लोकाः " [ई० उ० ३]

आसुरी लोकों को मत प्राप्त करो। क्योंकि यह जीव का संकल्प-विकल्प ही परमात्मा के दर्शन में महाआवरण है। यही गीता के निष्काम कर्मयोग का उपदेश है। यह

" गहना कर्मणो गतिः " [श्रीमद्भ० ४।१७]

कर्म की गहन—अगम्य—दुर्बोध गति है जिसमें बड़े-बड़े पण्डित मुग्ध हैं। अथवा

" गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् " [क० उ० १।२।१२]

कर्म की गति जिस गुहाहित चेतन आत्मसत्ता से सम्पन्न होती है वह अत्यन्त गहन—दुर्दर्श है। अनात्म शरीर के दर्शन से अर्थात् उसकी क्रियाओं से उसका दर्शन नहीं होता। वह तो

" सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥" [कै० उ० १०]

" कर्मयोग "

समस्त भूत प्राणियों में समरूप से स्थित है। वह ब्रह्म समदृष्टि से ही प्राप्त होता है विषम नामरूपात्मक पिण्ड–ब्रह्माण्ड के दर्शन से नहीं। इसीलिये समदर्शी विषम शरीर की क्रिया—अक्रिया में सम ब्रह्मतत्त्व को ही देखता है विषम शरीर को नहीं। यही भगवान् ने

" कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः " [श्रीमद्भ० ४।१८]

कर्म के रहस्य–गहनगति–उसके गोप्यतम रहस्य–स्वानुभूति को कहा है कि जो अध्यस्त अनात्म जड़ शरीर के कर्म—क्रिया में अधिष्ठान स्वरूप चैतन्य निष्क्रिय आत्मसत्ता को देखता है और अधिष्ठान स्वरूप निष्क्रिय—अक्रिय आत्मसत्ता में जड़ शरीर के कर्म को देखता है। अथवा अधिष्ठान दृष्टि से शरीर के कर्माकर्म का अभाव देखता है। अथवा अध्यस्ताभाव होने से जीवाभाव जगदाभाव देखता है केवल केवल ब्रह्मसत्ता को ही सर्वत्र सर्वदा देखता है और द्वैताभाव होने से

" यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्...." [बृ० उ० ४।५।१५]

इस श्रुति वचनानुसार, सबको अपना स्वरूप समझने के कारण नहीं भी देखता है। यहीं पर कर्म की गहनता का स्वरूप—गीता के प्रतिपाद्य विषय निष्काम कर्मयोग का स्वरूप यथार्थ समझ में आता है। यहीं पर

" यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥" [श्रीमद्भ० ४।१९]

पण्डितों के समस्त कर्म कामना एवं संकल्प से रहित निःसंकल्प निष्काम बुद्धि से सम्पन्न होने के कारण दग्ध हो जाते हैं और यह

अनुभव होता है कि सचमुच निष्कामत्व ही ज्ञान है। इसीलिये भगवान् इस स्थिति की अनुभूति के लिये निष्कामी को कामना के कलंक से शून्य निष्काम कर्मयोग का उपदेश देते हुए,

" समत्वं योग उच्यते " [श्रीमद्भ० २।४८]
" योगः कर्मसु कौशलम् " [श्रीमद्भ० २।५०]

से आदेश दे रहे हैं कि,

" यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् " [श्रीमद्भ० ४। १६]

इस अकुशलस्वरूप संसार में समत्वबुद्धि रूपी योग मे सम्पन्न, मुक्त होकर कुशल से रहो। अर्थात्

" मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥" [श्रीमद्भ० ३।३०]

विगतज्वर—निर्द्वन्द्व जीवन्मुक्तों की स्थिति को प्राप्तकर अध्यात्मदृष्टि से समस्त कर्मों को मुझमें समर्पित करके यानी,

" वासुदेवः सर्वम् " [श्रीमद्भ० ७।१९]

की ज्ञान दृष्टि के द्वारा सबको वासुदेवस्वरूप समझते हुए हेयोपादेय बुद्धि से मुक्त ब्रह्मस्थ हो निराशी निर्मम होकर प्रवाहपतित मुक्त युद्ध-रूप कर्म करते हुए अन्तःसुखी, अन्तरारामी, ब्रह्मयोगी, ब्रह्मानन्दी ब्रह्ममूर्ति बने रहो—ऐसा आदेश दे रहे हैं। यहीं पर,

" नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥" [श्रीमद्भ० २।६६]

" कर्मयोग "

समत्व बुद्धि से रहित, विषम कामना के कलंक से कलंकित, जन्म-मृत्यु प्रदायिनी, शुभाशुभयोनियों की पोषिका, अव्यवसायी, अयुक्त, वहिर्मुख भौतिकवादी बुद्धि का अनुभव होता है कि उससे खपुष्पवत् कदापि कभी भी किसी भी अवस्था में सुख-शान्ति की प्राप्ति संभव नहीं।

" युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् " [श्रीमद्भा०५।१२]
सुखशान्ति तो केवल समत्व निष्काम-बुद्धि में ही निहित है अन्यत्र नहीं। इसी अवस्था में :—

" रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ " [श्रीमद्भ० २।६४]

राग-द्वेषविमुक्त प्रपंचशोधक समत्व-निष्फलंक निष्कामबुद्धि के द्वारा बंधप्रद विषयों का सेवन भी निर्बंध परमात्मा के प्रसाद का सेतु होने के कारण समस्त दुःखों का निवर्तक भूमानंद का हेतु बनता है। और उसी से निष्कामी,

" स शान्तिमाप्नोति न कामकामी " [श्रीमद्भ० २।७०]

इस भगवद्वचनानुसार, शान्ति को प्राप्त करता है, कामनाओं का उपासक सकामी नहीं। इसीलिए राजयोगारूढ़ महाकर्मयोगी भगवान् स्वयं अपना एवं महाज्ञानी जनकादि राजर्षियों का प्रमाण देते हुए कह रहे हैं कि अर्जुन!

" तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥" [श्रीमद्भ० ६।४६]

तुम न दुराग्रही तपस्वी बनो, न कर्मत्यागी ज्ञानी बनो, न कर्म के रागी कर्मी बनो, न ध्यानयोगी बनो; न सांख्ययोगी बनो, न अष्टांग

" योगः कर्मसु कौशलम् "

योगीवनो, न एक देशीय ब्रह्मोपासक--अनाहतनादी और न सूरतयोगी वनो, न जपयोगी वनो, न हठयोगी वनो; न त्राटकयोगी वनो; न ऊर्ध्वबाहू वनो, न फलाहारी वनो; न दुग्धाहारी वनो, न मौनी बनो; न अरण्यवासी वनो; न शिलारोही वनो, न पदारोही वनो; न जटी वनो; न मुंडी वनो, न दण्डी वनो, न चक्रांकित वनो; न रागी बनो; न विरागी वनो, न साधु वनो; न असाधु वनो; न कर्मी वनो; न अकर्मी वनो; न सत्यवादी बनो; न असत्यवादी बनो; न धर्मवादी बनो; न अधर्मवादी वनो; न द्वैतवादी वनो; न अद्वैतवादी वनो और न त्रैतवादी वनो; अपितु

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म "

की दृष्टि से, सर्वात्मदर्शी; यदृच्छालाभी; निराग्रही;

" समत्वं योग उच्यते "

समत्वसेवी—निष्काम कर्मयोगी वनो।

यहीं पर;

" प्राप्तदेहतया नित्यं तथार्थक्रिययाऽनया।
कामसंसेवनेनाऽथ पूजयेच्छोभनं विभुम् ॥" [यो०वा०वि०पू०३६।३२]

" स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य " [श्रीमद्भ० १८।४६]

स्वकर्म परमात्मदेव की पूजा की सामग्री—प्रसून बनकर परमात्मा पर चढ़ने—अर्पण के योग्य वन जाते। यहीं पर

" शान्त ब्रह्मवपुर्भूत्वा कर्म ब्रह्ममयं कुरु।
ब्रह्मार्पणसमाचारो ब्रह्मैवभवसि क्षणात् ॥"
ईश्वरार्पितसर्वार्थ ईश्वरात्मा निरामयः।
ईश्वरः सर्वभूतात्मा भव भूपितभूतलः ॥" [यो०वा०नि०पू०५३।१७-१८]

" ब्रह्म सर्वं जगदहं चेति ब्रह्मार्पणं विदुः ॥" [५३।२३]

" ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।" [श्रीमद्भ० ४।२४]

" कर्मयोग "

भूतलालङ्कार शान्तमूर्ति ब्रह्मभूतों के समस्त कर्म ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मार्पित होते। यहीं पर ब्रह्मकर्मसमाधि के द्वारा यानी " सर्वं ब्रह्म " की बुद्धि के द्वारा अर्पण ब्रह्म, हवि ब्रह्म, अग्नि ब्रह्म, होता ब्रह्म, फल ब्रह्म, सब ब्रह्मस्वरूप हो जाते। इसी निरिच्छ परिपूर्ण आत्माराम असंगावस्था में,

" कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः " [नि०उ०]
" यस्तु मूढोऽल्पबुद्धिर्वा सिद्धिजालानि वाञ्छति।
निरिच्छो परिपूर्णस्य नेच्छासंभवति क्वचित् ॥ " [अन्न०उ० ४|७]

कर्तृत्वाभिमानी मूढ़ अविवेकी साधुओं एवं समाज से परम लाभ रूप से ग्राह्य अविद्या—अज्ञान मूलक समस्त सिद्धियों से वैराग्य—घृणा हो जाती। इसी अनुभूति पर

"अवलम्ब्य निरालम्बं मध्ये मध्ये स्थिरोभव" [महो०६|३८]
"असंविदन्सुखं दुःखं लाभालाभौ जयाजयौ।
शुद्ध ब्रह्मैकतां गच्छ ब्रह्माब्धिस्त्वं हि भारत ॥ "[यो०वा०निपू०५४|२०]
"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥" [श्रीमद्भ०२|३८]
"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्करिष्यसि कौन्तेय तदात्मेति स्थिरो भव ॥"
"अनपेक्षफलं ब्रह्म भूत्वा ब्रह्मेति बाधितम्।
क्रियते केवलं कर्म ब्रह्मज्ञेन यथागतम् ॥"

[यो०वा०नि०पू०५४|२३-२४]

"एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥" [श्रीमद्भा०२|६|३५]

"योगः कर्मसु कौशलम्"

मध्यस्थ समासंग निरालम्बनस्थ बुद्धि से सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-अजय; सन्धि-क्रान्ति; हिंसा-अहिंसा समस्त द्वन्द्वात्मक जगत् समता को प्राप्त कर जाता; सब अन्वय-व्यतिरेक दृष्टि से ब्रह्मस्वरूप हो जाते। इसी स्थिति में युद्ध पाप-बन्धन का हेतु नहीं बनता; समस्त कर्म, आहार; यज्ञ; दान आदि लौकिक-वैदिक व्यापार स्वयमेव ईश्वरार्पित हो जाते। यहीं पर उस निरपेक्ष ब्रह्मभूत से यथाप्राप्त—प्रारब्धानुसार ब्रह्मस्वरूप कर्म होते। इसी अवस्था में

"कर्मासक्तिमनाश्रित्य तथाऽनाश्रित्य मूढताम्।
नैष्कर्म्यमप्यनाश्रित्य समस्तिष्ठ यथास्थितम्॥ [यो०वा०नि०पू०५४।२७]
"नानातामलमुत्सृज्य परमात्मैकतां गतः।
कुर्वन्–कार्यमकार्यं च नैव कर्ता त्वमर्जुन॥"
[यो०वा०नि०पू० ५४।३१-३२]

"निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।
यथाप्राप्तानुवर्ती त्वं भव भूषितभूतलः॥" [यो०वा०नि०पू० ५४।३५]

कर्तृत्वाभिमान से मुक्त कर्मासक्ति—नैष्कर्म्यासक्ति से रहित हो द्वैतरूप नानात्वमल का त्याग कर जीव सम–ब्रह्मरूप हो यथा प्राप्त विधिनिषेधात्मक कर्मों को करते हुए भी अपने सर्वालङ्कारमय चिन्मय विग्रह से भूतल को विभूषित–अलंकृत कर देता। यह,

"एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया।
आदाय विहरन्नेव संकटेषु न मुह्यति॥" [महो०६।७३]

महानिर्वाणप्रदायिनी, सच्चिदानन्दस्वरूपा, परमस्वतन्त्रा, शोक-मोहविनाशिनी, निर्विकारा, परमपवित्रा, निरामया, आत्मारामा

" कर्मयोग "

असंसक्तिनामिका ब्राह्मी—ब्रह्म को प्राप्त पुरुषों की अनिर्वचनीय दिव्य परमानन्दमयी स्वसंवेद्य स्थिति है जहां पर

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा"
[छा०उ०७।२४।१]

"स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्म-
रतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः
स स्वराड् भवति।" [छा०उ०७।२५।२]

ब्रह्म से भिन्न अन्य कुछ न देखने, सुनने, समझने के कारण द्वैत-दर्शन का आत्यन्तिक अभाव हो जाता. केवल आत्मा से ही रति, आत्मा से ही क्रीडा, आत्मा से ही मैथुन; आत्मा से ही विनोद होता। उस समय में वह सर्वात्मदर्शी ब्रह्मभूत पुरुष .

ब्रह्मवेद्ब्रह्मैव भवति" [मु०उ०३।२।६]

इस श्रुतिसिद्धान्तानुसार निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मानन्दमूर्ति बन जाता अतः वह

"सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते" [श्रीमद्भ० ६।३१]

बाधितानुवृत्ति से सब प्रकार का विधिनिषेधात्मक शुभाशुभ व्यापार करने पर भी

"योगः कर्मसु कौशलम्" [श्रीमद्भ०२।५०]
"असङ्गोह्ययं पुरुषः" [वृ०उ०४।३।१५]
"असङ्गो न हि सज्जते" [वृ०उ० ३।६।२६]

अपने असंग—अनासक्तरूप योग से सम्पन्न होने के कारण अर्थात् स्वरूपस्थ आनन्दस्वरूप होने के कारण दुःखों के हेतुभूत अनात्म

असत्, जड़, दुःखस्वरूप देहबुद्धि को नहीं प्राप्त करता यानी अधिष्ठान आत्मतत्त्व में अध्यस्त अनात्म देहदर्शन के न होने के कारण मोह—सर्वानर्थस्वरूप द्वैतदर्शन को नहीं प्राप्त करता। भला; जिस निर्दुःख सुखस्वरूप तत्त्व के स्मरणमात्र से समस्त दुःखों का अभाव होता है उस आनन्दमूर्ति को कैसे दुःख होगा? द्वैताभाव होने के कारण कैसे उसे मोह होगा? क्योंकि उसकी अद्वय भूमा निर्गुण निर्विशेष शरीर में अन्य किसी की सत्ता ही नहीं है। अतः उस भूमा पुरुष को दुःख हो ही नहीं सकता; क्योंकि उसकी दृष्टि में द्वैतप्रपञ्च का अभाव है। जैसे सूर्य अन्धकार को नहीं देख सकता और अन्धकार सूर्य को, वैसे ही अजात्मा ब्रह्मदर्शी,

" न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् " [छा० उ० ७।२६।२]

दुःख को नहीं देख सकता और दुःख उस ब्रह्मभूत ब्रह्ममूर्ति पुरुष को। अतएव ऐसी स्थिति में उसका दुःखों से आक्रान्त होना संभव ही नहीं। यह दुःखों से मुक्त होने का श्रुति का केवल अनुवादमात्र है, वस्तुतः ब्रह्मदर्शी को कभी दुःख होता ही नहीं। इसलिये कि उसकी दृष्टि में दुःखोत्पादक अविद्या एवं उसके कार्य द्वैतप्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव है। हाँ, तो वह

" निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां विधिः को निषेधः "

विधि निषेधातीत अप्रमेय सर्वतन्त्रस्वतन्त्र भूमा पुरुष अपने अद्वितीयत्व, असंगत्व; सुखस्वरूपत्वरूप महायोग की महिमा—सामर्थ्य से लोक का लोकाचार—प्रचुर व्यापार करता हुआ भी कभी भी किसी भी

काल में अर्थात् दुःखों की पराकाष्ठा प्रलयकाल में भी जब कि द्वादश सूर्य उग्ररूप से तपते; वड़वाग्नि संसार को भस्मीभूत करने पर उद्यत होती, महाझंझावात प्रचण्ड वायु चलती; प्राणघातक संवर्तक मेघ गरजते एवं बरसते; उस काल में भी संकट एवं मोह को प्राप्त नहीं करता यानी अपने अद्वयानन्दस्वरूप आत्मा की विस्मृति को नहीं प्राप्त करता, सदैव अपनी असंग, निर्दुःख, निर्द्वन्द्व निर्मोहावस्था में स्थित रहता है फिर क्षुद्र दुःखों की गणना ही क्या ? वहां तो

"ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः ।
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥" [तै० उ० २।८]

इस श्रुति सिद्धान्तानुसार, निष्कामत्व के कारण ब्रह्मा से शताधिक आनन्द-सुख ही सुख रहता है, उस अवाङ्मनसगोचर अनिर्वचनीय निरतिशयानन्द, अक्षयानन्द, अद्वयानन्द का निर्वचन कौन कैसे करे। वह तो मूकास्वादनवत् केवल अनुभवगम्य है । जो कोई भी इस अन्तःसुखी आत्मारामी प्रदेश, भूमा सार्वभौम स्वाराज्य में पहुँचा बस,

"न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते"
"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

इस श्रुति वचनानुसार मौन हो गया, गति अवरुद्ध हो गई, उसका पुनरावर्तन समाप्त हो गया। उसके लिए अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड का सुख तुच्छ, नगण्य, हेय, व्यर्थ हो गया। इसीलिए इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिये बड़े-बड़े त्रैलोक्य के ईश्वर सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट साम्राज्य का तृणवत् त्याग कर उसमें लीन, मग्न हुए हैं। उस

"योगः कर्मसु कौशलम्"

सार्वत्रिक ब्रह्मानन्द की वृष्टि करने वाले भूमासुखसुधासिन्धु में सर्वत्र आनन्द की ही तरङ्ग-लहरें-किलकारियाँ-उमंगे उठा करती हैं। वहाँ द्वैताभाव होने के कारण केवल केवलानन्द, केवल अनुभवानन्द, केवल असंगानन्द की, सच्चिदानन्द घन की पूर्ण स्थिति रहती है। वहां पर लेशमात्र भी दुःख का गन्ध नहीं है। दुःख का मूल तो आसक्ति ही है जैसा कि महारामायण में कहा गया है :—

"अन्तःसङ्गो हि संसारे सर्वेषां राम देहिनाम् ।
जरामरणमोहानां तरूणां बीजकारणम् ॥" [यो०वा०५।६७।२६]

"यत्सुखार्थित्वमन्तः स सङ्गो बन्धार्ह उच्यते। " [५।६८।३]

"संसक्तिवशतः सर्वे वितता दुःखराशयः ।" [५।६८।१०]

"संसक्तमनसामस्मिन्संसारे व्यवहारिणाम् ।
अत्तितृष्णा शरीराणि तृणान्यग्निशिखा यथा ॥"[५।६८।४१]

"दुःखजालमिदंनाम यत्किंचित् जगतीतलम् ।
संसक्तमनसामर्थे तत्सर्वं परिकल्पितम् ॥ [५।६८।४६]

"संसक्तचित्तमायान्ति सर्वा दुःखपरम्पराः ।"
जलकल्लोलवलिता महानद्य इवाऽन्त्रुत्रिम् ॥"[५।६८।४७]

"संसङ्गेनाऽन्तरस्थेन दह्यते प्रकृतिः स्वयम् । " [५।६८।५१]

["आसक्ति ही समस्त प्राणियों के जरामरणमोहरूपी वृक्ष का मूल कारण है।"
"आन्तरिक वैषयिक सुखार्थिता ही बन्धनप्रद सङ्ग है।"
"आसक्ति से ही समस्त दुःख राशियां विस्तार को प्राप्त होती हैं।"

" कर्मयोग "

"जैसे अग्निशिखा तृण को खा जाती है वैसे ही तृष्णा संसार में आसक्त जीवों को खा जाती है।"

"इस संसार में जो कुछ भी दुःख जाल है वह सब आसक्त पुरुषों के लिए ही कल्पित है।"

"जैसे जलतरङ्गों से तरङ्गित बड़ी-बड़ी नदियां समुद्र की ओर जातीं हैं।वैसे ही समस्त दुःखों की परम्परायें आसक्त पुरुषों को प्राप्त होती हैं।"

"हृदयस्थ आसक्तिरूपी अग्नि के द्वारा प्रकृतिभूत जीव दग्ध होता है।"

"अन्तःसंसङ्गवाञ्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।
अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णःसंसारसागरात्॥" [यो०वा०५।६७।३०]

"असक्तं निर्मलं चित्तं मुक्तं संसार्यपि स्फुटम् ।
सक्तं तु दीर्घतपसा युक्तमप्यतिबन्धवत् ॥" [५।६७।३३]

"अन्तःसङ्गमङ्गानामङ्गारं विद्धि राघव ।
अनन्तः सङ्गमङ्गानां विद्धि राम रसायनम् ॥ [५।६८।५०]
विद्यादृशि प्रोदयमागतेन क्षयं त्वविद्याविषये गतेन ।
सर्वत्रसंसक्ति विवर्जितेन स्वचेतसा तिष्ठति यः स मुक्तः ॥" [५।६८।५३]

"अन्तःसक्तं मनोबद्धं मुक्तं सक्तिविवर्जितम् ।
अन्तः संसक्तिरेवैकं कारणं बन्धमोक्षयोः ॥" [५।६७।३४]

"तस्मात्सर्वपदार्थानां श्लिष्टानां निश्चितं बहिः ।
सर्वदुःखकरीं क्रूरामन्तःसक्तिं विवर्जयेत् ॥" [५।६७।४४]

" योगः कर्मसु कौसलम् "

"आसक्त पुरुष संसार-सागर में निमग्न होता है और आसक्ति रहित पुरुष संसार-सागर से मुक्त हो जाता है।"

अनासक्त निर्मल चित्त संसारी होने पर भी असंसारी निश्चित मुक्त ही है और आसक्त चिरकालिक तपश्चर्या से सम्पन्न होने पर भी दृढ़बन्धन से युक्त है।"

"अन्तः सक्ति अङ्गों के लिए दाहप्रद अङ्गारा है और अनासक्ति महा-रसायन है।"

"विद्या—विज्ञानोदय के द्वारा अविद्या—अज्ञान की तुर्यावस्था को प्राप्त अर्थात समस्त वस्तुओं की आसक्ति से रहित स्वान्तः करण से जो पुरुष सदा सर्वदा अवस्थित रहता है, वही जीवन्मुक्त है।"

"आसक्ति युक्त मन बद्ध और आसक्ति रहित मुक्त है; केवल आसक्ति ही बन्ध-मोक्ष में कारण है]"

अतः बन्धनप्रद जरामरणमोह की जननी, संसार-सागर को समुल्लसित करने वाली, शुभाशुभ योनियों की योनी सर्वदुःखप्रदायिनी क्रूर महाराक्षसी आसक्ति का प्रयत्नतः त्याग करके मोक्षप्रद जरा-मरणमोहनाशिनी; संसार का शोषण करने वाली; शुभाशुभयोनियों की निरोधिका; सर्वसुखप्रदायिनी सौम्य—दिव्य अनासक्ति महादेवी का अवश्यमेव सेवन करना चाहिये। क्योंकि आसक्ति ही बन्धन और अनासक्ति ही मुक्ति है। बस; इतना-सा समस्त वेद-वेदान्त एवं शास्त्रों का निर्णय है और सब केवल ग्रन्थों का विस्तारमात्र है।

अतः चलते-फिरते- उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते सदैव सर्व-काल में, सर्व कर्म में सर्वत्र,

" आनन्दो ब्रह्म " [तै० उ० ३।६]
" असङ्गो ह्ययं पुरुषः " [बृ० उ० ४।३।१५]
" असङ्गो न हि सज्जते " [बृ० उ० ३।६।२६]

सुखस्वरूप असंग—अनासक्त ब्रह्म का स्मरण करते हुए अनासक्त हो जाना चाहिये। क्योंकि आम्नायमस्तक—श्रुति का भी यही दिव्य संदेश है कि :—

" अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विगासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥" [महो० ६।६७]
" अन्तः संसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान्।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन्वा कर्ताभोक्ता न हि क्वचित्॥" [अन्न०उ०१।५७]
" बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदिसंरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥" [महो० ६।६८]
" नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते।
सुसमो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः॥"
" सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा।
निपुणो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः॥" [अन्न०उ० २।५-६]
" उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्।
अन्तः सङ्गपरित्यागी बहिः संभारवानिव।
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः॥" [महो० ६।७०]

" योगः कर्मसु कौशलम् "

" अन्तःकरण से सर्व आशाओं से रहित, वीतराग, निर्वासनिक हो बाहर से समस्त सांसारिक व्यापारों को करता हुआ सन्तापरहित हो लोक में विचरे । "

" अन्तरासक्ति से मुक्त मधुरवृत्ति वाला जीव बाह्येन्द्रियों से कर्म करता अथवा न करता हुआ कर्ता-भोक्ता नहीं होता ।" " बाहर से कृत्रिम क्रोध का नाट्य करते हुए तथा हृदय से क्रोधशून्य, हो शरीर से कर्ता, अन्तः स्वरूप दृष्टि से अकर्ता ज्ञानी लोक में व्यवहार करे ।"

" जो नैष्कर्म्य की स्तुति नहीं करता और न कर्म में अनुसक्त होता है वह सर्वपरित्यागी समदर्शी असंसक्त कहा जाता है। "
" जो सर्व कर्म एवं तज्जनित फलादि को कर्म से नहीं अपितु मन से त्यागी है वह सर्वपरित्यागी निपुण पुरुष असंसक्त कहा जाता है ।" उदार; श्रेष्ठाचार सम्पन्न, सर्वाचार का अनुवर्तन करने वाला अन्तःकरण से अनासक्त हो बाहर से-प्रयत्नशील सा रहे; अन्तःकरण से वैराग्य सम्पन्न हो बाहर से आशान्वित होकर व्यापार करे ।"

महाज्ञानी महर्षि वसिष्ठ भी भगवान् राम को अनासक्ति का ही उपदेश दे रहे हैं :—

" आत्मतत्त्वैकनिष्ठस्य हर्षामर्षवशं मनः ।
यस्य नाऽयात्यसक्तोऽसौ जीवन्मुक्तः स कथ्यते ।।" [यो० वा ५।६८।७]

" ब्रह्महत्याश्वमेधाभ्यामसंसक्तो न लिप्यते ।
दूरस्थकान्तासंलीनमनाः कार्यैरिवाऽग्रगैः ।।" [यो० वा०५।६७।४१]

" अन्तःसंसक्तिमुक्तं यन्मनः स्यादकर्तृकम् ।
तद्विमुक्तं प्रशान्तं तत्तद्युक्तं तदलेपकम् ।। "[५।६७।४३]

" कर्मयोग "

'जिस आत्मतत्त्वनिष्ठ पुरुष का मन हर्षामर्ष के वश में नहीं होता, वह लोक में असक्त और जीवन्मुक्त कहा जाता है । "

"जिस प्रकार दूरस्थ कान्ता में संलीन पुरुष का मन उपस्थित कार्यों में आसक्त—लिप्त नहीं होता, वैसे ही आसक्तिशून्य पुरुष ब्रह्महत्या, अश्वमेधादि के पुण्य-पापों से लिप्त नहीं होता। "

" आसक्तिशून्य मन अकर्ता, विमुक्त, प्रशान्त, युक्त; निर्लिप्त ब्रह्मस्वरूप होता है।"

सर्वोपनिषदिक गीता महाशास्त्र के द्वारा भी भगवान् का अर्जुन के प्रति अनासक्तियोग का ही उपदेश है :—

"बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ [श्रीमद्भ०२।५०]

"गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥" [४।२३]

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥" [५।१०]

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥" [२।३८]

"स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोतिकिल्विषम् ॥" [१८।४७]

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥" [५।११]

"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥" [४।२०]

"तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥" [३।१९]

"युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।" [५।१२]

'समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥" [४।२२]

" योगः कर्मसु कौशलम् "

" समत्व बुद्धिरूपी योग से युक्त जीवन्मुक्त पुरुष इस जीवनकाल में ही सुकृतदुष्कृतात्मक समस्त कर्मों को नष्ट कर देता है। इसलिये योग से युक्त होना चाहिये, क्योंकि योग ही कर्म में कुशलता प्रदान करता है। "

" जो संग से मुक्त है, जिनका चित्त ज्ञानालोक से आलोकित है उनका ईश्वरार्थ किया हुआ समस्त कर्म ब्रह्म में लीन कर जाता है।"
" जो संग को त्यागकर अपने समस्त कर्मों को ब्रह्म में समर्पित कर देता है वह पद्मपत्रवत् पाप से लिप्त नहीं होता, सदैव मुक्त ही रहता है। "

" सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जय-अजय में सम होकर युद्ध करने से जीव पाप को प्राप्त नहीं करता। "

" स्वभाव सिद्ध कर्म करते हुए जीव पाप को नहीं प्राप्त करता है।"
" योगी जन संग से मुक्त हो कर्म करते हैं। "

" मनुष्य को अनासक्त होकर सतत कर्म करना चाहिये, क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करता हुआ परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करता है। "

" समत्वबुद्धिसम्पन्न अनासक्त पुरुष कर्मफल को त्याग कर परानिष्ठा की शान्ति को प्राप्त करता है। "

" कर्मयोग "

" जो सिद्धि–असिद्धि में सम होकर कर्म करता है वह कर्म करता हुआ भी बन्धन को प्राप्त नहीं होता । "

इसलिए इस निर्लेप—जीवन्मुक्तावस्था की प्राप्ति के लिये अनासक्त होकर ,

' उत्पद्यते यतः कर्म यतश्चैव प्रवर्तते ।
व्याप्तं कर्मात्मकं सर्वं तस्मै कर्मात्मने नमः ॥ "

कर्मों के स्रष्टा, कर्मों के प्रेरक, कर्मस्वरूप कर्मात्मा ब्रह्म के लिए विश्व का समस्त व्यापार करना चाहिए ।

"प्रेरितस्य स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रस्य हि सर्वदा ।
ग्रन्थोऽयं कर्मयोगाख्यः स्वतन्त्रेशाय अर्पितः ॥
"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—❋—

सर्वात्मदर्शी श्रोत्रिय ब्रह्मविद्वरिष्ठ परमहंस अनंत श्री विभूषि
श्री स्वामी स्वतंत्रानन्द जी महाराज द्वारा प्रणीत तीन
अमूल्य ग्रंथ।

१— श्री मद्भगवद्गीता की सर्वोत्कृष्ट प्रवचनात्मिका टीका

तत्त्वदर्शिनी मू०—१० रुपया

२— नारदभक्तिसूत्र की सर्वोत्कृष्ट अनुभवात्मिका टीका

प्रेमदर्शिनी मू०—५ रुपया

३— पाण्डित्यपूर्ण अद्भुद् अनुभवसम्पन्न अद्वितीय स्वतंत्र ग्रन्थ

कर्मयोग मू०—१।। रुपया

पुस्तक मिलने का पता :—

श्री धर्मवीर मल्ल

स्थान— उसुरी, पो० आ० — मधुवन
जिला— आजमगढ़, (उत्तर प्रदेश)